वैदिक व्याख्यान माला - सातवाँ व्याख्यान

अध्यात्मज्ञान से

वैयक्तिक दिव्य जीवन

और

राष्ट्रीय उन्नति

लेखक

पं. श्रीपाद दामोदर सातवळेकर

अध्यक्ष- स्वाध्याय-मण्डल, 'आनन्दाश्रम', किल्ला-पारडी, जि. सूरत

मूल्य छः आने

ॐ

(१) अध्यात्म ज्ञान से
वैयक्तिक दिव्य जीवन

अध्यात्मके सिद्धान्त पर आधारित वैयक्तिक जीवन किस प्रकारका होना सम्भव है, इस विषयपर आज हमें विचार करना है। भारतीय ऋषि-मुनियोंने बहुतसी तपस्या एवं ध्यानधारणा करके एवं अनेक अनुभव प्राप्त करके अध्यात्मशास्त्रके सिद्धान्तोंका निर्धारण किया है। ये सिद्धान्त तीनों कालोंमें टिकनेवाले हैं; अतएव इसी अध्यात्मकी नींवपर उन्होंने वैयक्तिक एवं राष्ट्रीय जीवनकी इमारत खड़ी की। आर्योंके वैयक्तिक एवं सामुदायिक जीवनकी यही मौलिक विशेषता है। आज हमारा ध्यान ही इस विशेषताकी ओर नहीं है; अपितु आज तो हमारा जीवन अध्यात्मकी इस उच्च भूमिकासे बहुत नीचे तक पतन हो चुका है। पतनकी यह स्थिति लगभग दो हजार वर्षोंसे निरन्तर चली आ रही है। बीच बीचमें अनेक महान पुरुषोंने इसे रोकनेका प्रयत्न किया और इसके फलस्वरूप यह पतन कुछ रुक भी गया, किन्तु पुनः वह उसी वेगसे आरम्भ होता रहा। हमारी यह अवस्था दो हजार वर्षोंसे है!!! ऐसा क्यों हो रहा है? इस प्रश्न पर विचार करनेका समय अब आ चुका है; अतएव आज इसी विषयपर विचार किया जाता है।

स्वराज्य प्राप्तिके पश्चात् हमारा उत्तरदायित्व

हमें स्वाधीनता मिली है। इस स्वराज्यका उपभोग हमें सुराज्य बनाकर करना है और भारतीय सभ्यताके उद्यानको नन्दनवन बनाकर विश्वको यह दिखाना है कि भारतीय सभ्यता इतनी ऊंची है कि जिसमें उसे सच्ची शान्ति प्राप्त हो सकेगी।

समुद्रपर्यन्तायाः पृथिव्या एकराट्। ऐ. ब्रा.

'समुद्र तक पृथ्वीका एक आर्यराजा हो और इस समग्र पृथ्वीका राज्य एक आर्य विधानके अनुसार चले' यह पांच हजार वर्ष पूर्व की गई ऋषियोंकी घोषणा आज तक पूर्ण नहीं हो पाई। उसे पूर्ण करके दिखानेकी इच्छा आज यदि किसी की हो तो वह पूर्ण हो सकती है; क्योंकि आज हम स्वतन्त्र हैं। यदि हम व्यवस्थितरूपसे प्रयत्न करें तो सफलता अवश्य मिल सकती है। बात केवल इतनी है कि इसके लिये जो कुछ प्रयत्न किया जाय वह सर्वथा सच्चा हो।

इसके लिये सर्वप्रथम हमें पतनकी ओर अग्रसर होती हुई अपनी गतिको शीघ्र रोकना चाहिये, तथा अभ्युदय एवं निश्रेयसकी प्राप्तिके लिये एक सफल कार्यक्रम निर्धारित कर हमें यथाशीघ्र उस दिशाकी ओर प्रगति करनी चाहिये।

विचार, वक्तव्य, आचार

मनुष्योंके अन्दर कुछ विचार स्थायी रूपसे रहते हैं। कुछ निश्चितसे सिद्धान्तोंको वह अपने जीवनमें ढाल लेता है। तदनुसार बोलता है तथा जो बोलता है उसीके अनुसार वह कार्य किया करता है। इस कार्य द्वारा मनुष्यकी उन्नति या अवनती जो कुछ होनी सम्भव है वह हुआ करती है। यदि पिछले हजार दो हजार वर्षोंसे सचमुच हमारी अवनती होती जा रही है तो हमें यह विचार करना आवश्यक है कि हमारे आचार विचार ठीक हैं या नहीं।

वेदकालीन आर्यराष्ट्रकी तेजस्विताकी प्रशंसा संसारके सभी विद्वान एक स्वरसे सदैव करते आये हैं। वेद, उपनिषद्, गीताकी कोई प्रशंसा नहीं करता, ऐसा उदाहरण नहीं मिलेगा। इतने श्रेष्ठ तत्वज्ञानके अधिकारी एवं बड़ी सावधानीसे उसकी रक्षा करनेवाले हम इतनी अवनतावस्थामें क्यों हैं। विगत हजार डेढ हजार वर्षोंमें बाहरके

आक्रमण बराबर यहाँ आते रहें, यहाँ आकर हमारी कतल करें, लूटपाट करें और स्वयं खूब चैन उडावें; किन्तु हमें सुखसे न रहने दें !! ऐसा क्यों हुआ, इस बातका विचार करना चाहिये ।

विचार, कथन और आचरणका बहुत अधिक महत्व है; किन्तु इनमें भी विचारोंका विशेष महत्व है । जैसे विचार होंगे वैसाही कथन होगा और तदनुसार ही आचरण होगा। अतः हम प्रथम यह देखेंगे कि वैयक्तिक विचार पहले कैसे थे और आज किस प्रकारके हैं। हमने पहले ही कहा है कि प्राचीन भारतीय आर्योंके वैयक्तिक जीवनका आधार अध्यात्म था । जबतक वह ठीक रहा तब तक आर्य दिग्विजयी होते रहे । किन्तु वह आधार ज्यों ज्यों ढलसता गया त्यों त्यों आर्योंकी अवनती होती चली गई । इस अवनतिके कारण कौनसे विचार थे ? इसपर हमें यहाँ प्रकाश डालना है ।

उत्तम पुरुष

आर्योंके जीवनकी आध्यात्मिकता उनके सम्पूर्ण जीवनमें ओतप्रोत थी । अतएव उनके सभी शास्त्रोंपर आध्यात्मिकताकी छाप दिखाई देती है । हम उदाहरणार्थ व्याकरणशास्त्रके तीन पुरुषोंको लेंगे—

१-उत्तमपुरुष--अस्मत्, अहं । २-मध्यम पुरुष--युष्मत्, त्वं । ३-तृतीयपुरुष--तत्, सः । 'मैं' उत्तम पुरुष है, उत्तम पुरुषकाही अर्थ 'पुरुषोत्तम' है । 'उत्तमपुरुष' और 'पुरुषोत्तम' एकही बात है । मैं 'उत्तम पुरुष' हूँ अर्थात् 'पुरुषोत्तम' हूँ, यही अध्यात्मज्ञान है । 'अहं ब्रह्म अस्मि' में 'मैं ही' पुरुषोत्तम' हूँ, ऐसा कहा गया है । साधारणसे व्याकरण शास्त्रने यह इस प्रकार अध्यात्मके मुख्य सिद्धान्तका प्रतिपादन किया है!

अस्तित्ववान् पुरुष

उत्तम पुरुष अर्थात् 'अस्मत्' पद द्वारा निर्दिष्ट पुरुष । 'अस्+मत्' अर्थात् 'अस्तित्ववान्' जिसका अस्तित्व है ऐसा पुरुष । जिसके लिये स्वयं का अस्तित्व है ऐसा पुरुषोत्तमके अतिरिक्त और कौन होगा ? 'अस्मत्' पद 'मेरे अपने स्वयंभूपनेका अस्तित्व बता रहा है । दूसरे किसी की भी सहायता प्राप्त किये बिना मैं अपना अस्तित्व स्थिर रख सकता हूँ । ऐसा मैं स्वयंसिद्ध पुरुष हूँ । यही मेरा 'उत्तमपुरुषत्व' और यही 'पुरुषोत्तमत्व' है ।

इस 'अस्मत्' शब्दकी प्रथमाका एकवचन 'अहं' बनता है । 'अ+हं' अर्थात् 'जिसका त्याग न हो सके वह' (अ) नहीं (हा) त्याग जिसका वह 'अ--हं' है । यही 'अस्--मत्' और यही 'उत्तमपुरुष' अथवा 'पुरुषोत्तम' है । यही 'स्वयम्भू' 'स्वरूप' 'मैं' हूँ । अध्यात्मका यह तत्वज्ञान व्याकरणके दो शब्दोंद्वारा यहाँ पर दिखाया गया है ।

मैं उत्तमपुरुष, मैं (अस्मत्) अस्तित्ववान् अथवा जिसका अपना अस्तित्व है ऐसे मेरा त्याग किसीसे भी (अ+हं) नहीं हो सकता, ऐसा मैं हूँ ।

तू 'युष्मत्' अर्थात् 'आयुष्+मत्' मेरे आशीर्वादसे आयुष्य प्राप्त हुआ हुआ, ऐसा तू है । मैंने तुझे अस्तित्व प्रदान किया है । 'तू है' ऐसा मैंने कहा, अतएव तुझे अस्तित्व प्राप्त हुआ है । यह मध्यमपुरुष है ।

मैं और तू के अतिरिक्त (तत् अर्थात् वह) एक तीसरा पुरुष है । वह (अस्मत्) अस्तित्ववान् भी नहीं है और (युष्मत्, आयुष्मत्) उसे मैंने अस्तित्व भी प्रदान नहीं किया है । इस प्रकारका यह तृतीयपुरुष है ।

मैं तू और वह इन तीन पुरुषोंसे समस्त विश्व व्याप्त है । इनमें 'मैं' उत्तमपुरुष है । सबसे उच्च 'मैं' है । इस मैं के अस्तित्वसे ही अन्य सबको अस्तित्व प्राप्त हुआ है । इस प्रकारका मैं स्वयम्भू और स्वयंके अस्तित्वसे सदैव रहनेवाला तथा दूसरोंको अस्तित्व देनेवाला सबमें सामर्थ्ययुक्त मैं हूँ । यह समस्त तत्वज्ञानका आधार है । इसे व्याकरणके २-३ शब्दोंद्वारा हमने बताया है । यही बात उपनिषदोंमें भी व्यक्त की गई है—

अहं ब्रह्म अस्मि ! तत् त्वं असि ।

'अहं ब्रह्म अस्मि' अर्थात् 'मैं एक बडी शक्ति हूँ' 'मैं सर्वश्रेष्ठ हूँ' 'मैं उत्तम पुरुष' अथवा 'पुरुषोत्तम हूँ । ये उपनिषदोंके विचार हैं । मैं एक महान् शक्ति हूँ । मैं दीन हीन नहीं हूँ, मैं तुच्छ अथवा उपेक्षणीय नहीं हूँ, ये कितने ऊंचे विचार हैं ? ये विचार मनमें आते ही हमारी ऊंचाई थोडी बहुत बढी है, हममें कुछ शक्ति बढी है, ऐसा प्रतीत होता है । ऐसे उच्च पदारूढ इस 'मैं' की कालान्तरमें जो अवनति हुई वह कहाँतक पहुँची, इसका विचार करना चाहिये । देखिये—

पापोऽहं पापकर्माहं पापात्मा पापसम्भवः ।

'मैं पापी हूँ, मैं पाप कर्म करता हूँ, मैं पापात्मा हूँ और पापके कारण ही यह मेरा जन्म हुआ है; इस प्रकार मैं बड़ा अपराधी हूँ, दोषी हूँ।'

एकदम ऊंचे शिखरसे घसरते हुए बहुत नीचे जाकर गिर पड़नेके समान यह स्थित्यन्तर हुआ है। कहाँ स्वयम्भू, स्वतः सिद्ध पुरुषोत्तमकी स्थिति और कहाँ 'पापमूलक मेरा जन्म है और मैं पापी हूँ' ऐसा मानना। समस्त वेदों और उपनिषदोंमें ऐसा एक भी वाक्य नहीं है कि जहाँ इस प्रकारसे हमने स्वयंको ही कोसा हो या अपमानित किया हो। बुद्धके पश्चात् 'जन्म पापमूलक है' ऐसे विचारोंको प्रोत्साहन मिला और तबसे यह आत्मघातकी विचारसरणी उत्पन्न हुई, जो आज तक जारी है।

मैं इन्द्र हूँ

'मैं उत्तम पुरुष हूँ' अर्थात् 'मैं पुरुषोत्तम' हूँ, यह उपनिषदोंका तत्त्वज्ञान व्याकरणमें किस प्रकार आया है, अब इसे देखना है तथा वेद मन्त्रोंमें यही बात किस रूपमें उल्लिखित है, इसे देखना है—

अहं इन्द्रो न पराजिग्य इद्धनं ।
न मृत्यवे अवतस्थे कदाचन ॥ ऋ. १०।४८।५

'मैं इन्द्र हूँ, मेरा धन मुझे पराजित करके कोई भी छीन नहीं सकता, मैं कभी भी मृत्युको प्राप्त न होऊंगा।'

'मैं पुरुषोत्तम हूँ, मैं ब्रह्म हूँ,' 'मैं इन्द्र हूँ।' ये वाक्य एक ही आशयको व्यक्त करते हैं और वह आशय है कि 'मैं शक्तिमान् हूँ' 'मैं शक्तिका केन्द्र हूँ' इसीका स्पष्टीकरण उपर्युक्त मन्त्रोंके अगले भागोंने किया है 'न परा जिग्ये' मैं पराभूत नहीं होता, मेरा कोई भी पराभव नहीं कर सकता, मेरा पराभव करके मेरा धन कोई भी नहीं छीन सकता। यह सब 'मैं इन्द्र हूँ' का स्पष्टीकरण है।

शक्तिका केन्द्र मैं

'मैं' द्वारा जिसका निर्देश किया जाता है उसका स्वरूप-वर्णन करना अध्यात्मशास्त्रका विषय है। 'मैं' नाम की जो वस्तु है वह शक्तिमान् है अथवा निर्बल है? यह प्रश्न यहाँ उपस्थित है। इस प्रश्नका उत्तर इस मन्त्र द्वारा 'मैं शक्तिमान् हूँ' के रूपमें दिया है। मैं इतना शक्तिमान हूँ कि मेरा पराभव कोई भी नहीं कर सकता, इतना मुझमें सामर्थ्य है। 'अहं इन्द्रः' में इन्द्र हूँ। इन्द्र अर्थात् जो (इन्) शत्रुका (द्र) विदारण करनेवाला है।। मैं इन्द्र हूँ का ही अर्थ है कि मैं सामर्थ्यशाली हूँ और मैं अपने सम्पूर्ण शत्रुओंका विदारण करके उनका विनाश कर सकता हूँ। मुझमें इतना अधिक सामर्थ्य है। इस मन्त्रका यह आशय है। 'मैं' नामकी जो वस्तु है उसका यह इतना महान् सामर्थ्य है।

जिस प्रकार सामर्थ्यशाली विद्युत् सम्पूर्ण वस्तुओंमें है, किन्तु वह घर्षणादि प्रयोगों द्वारा प्रकट करनी पड़ती है। इसी प्रकार 'मैं' के अन्दर यह इन्द्रशक्ति है। वह अनेक अनुष्ठानों द्वारा प्रकट होती है। अर्थात् यह तो सुनिश्चित है कि वहाँ शक्ति है और वह 'मैं' निर्बल नहीं, सबल है। इसमें स्वभावतः शक्ति है। यह शक्ति किसीमें गुप्त हुआ करती है तो किसीमें प्रगट। किन्तु मूलतः वह शक्ति अन्दर रहती है। इस 'मैं' में ऐसी बड़ी शक्ति विद्यमान है। इसी शक्ति पर हमें ध्यान देना चाहिये। इसकी उपेक्षा करना उचित नहीं है। हमारे समस्त अध्यात्मशास्त्र इसी शक्तिका वर्णन करते हैं। इसी को हमें देखना चाहिये।

इन्द्रकी सभा

इन्द्र की एक सभा है, उस सभाका अध्यक्ष इन्द्र है और अन्य सब देव उस सभाके सभासद हैं। मुख्य देव ३३ हैं और इनमें प्रत्येकके कोट्यवधि देव अनुयायी हैं। इसीलिये तेंतीस कोटि देव' की कहावत पड़ी है। इस सभाके नाम 'इन्द्रसभा, देवसभा' है। यह देवसभा इसी शरीरमें विद्यमान है, ऐसा वेद एवं उपनिषदोंमें कहा गया है। जहाँ इन्द्र होगा वहाँ उसके सहचारी देव होने ही चाहिये। अतः यदि 'मैं' इन्द्र है तो उसकी देवसभा वहाँ पर होनी ही चाहिये।

इन्द्र एवं इन्द्रियाँ

किन्तु 'मैं इन्द्र हूँ' इसका पता ही पहले तो बहुतसों को नहीं होगा। अतः इसी बातको प्रथमतः सिद्ध करना चाहिये। सब लोगोंको यह पता है कि इस शरीरमें पांच ज्ञानेन्द्रियाँ, पांच कर्मेन्द्रियाँ एवं कुछ अन्तरिन्द्रियाँ हैं।

यह इन्द्रिय शब्द अत्यन्त महत्वका है तथा विचारणीय भी है। इन्द्रियका अर्थ है 'इन्द्रकी शक्ति' ये सारी इन्द्रियाँ इस इन्द्र की शक्तियाँ हैं। यदि कर्मेन्द्रियाँ, ज्ञानेन्द्रियाँ एवं अन्तरेन्द्रियाँ इन्द्रकी शक्तियाँ हैं तो फिर इन सबके पीछे इन्द्र भी कहीं न कहीं तो होना ही चाहिये, यह स्पष्ट है। इन्द्रियोंका यह नामकरण 'इन्द्रकी शक्ति' होनेके कारण ही हुआ है। अतः इनका जो अधिष्ठाता, अधिपति या संचालक होगा वही इन्द्र होना चाहिये, यह स्पष्ट है। इन्द्र कहाँ है? इसका प्रत्यक्ष प्रमाण हमें अपने शरीरमें ही मिल सकता है। इस प्रमाणके आधारपर यह सिद्ध होता है कि देहका स्वामी जो 'मैं' वही इन्द्र है और उसकी यह शक्ति इन समस्त इन्द्रियोंमें फैली हुई है। इस आत्माको इन्द्र कहा जाता है; अतएव उसकी शक्तियोंको 'इन्द्रिय' कहा जाता है।

इन्द्र--सभाके देवता

अबतकके विवरणसे यह प्रतिपादित हुआ कि इन्द्र इसी शरीरमें निवास करता है। जहाँ वह निवास करता है वहीं स्वर्ग है, वहीं अमरावती है, स्वर्ग का जो नन्दनवन है वह यहीं है। इसी अमरावतीमें देवोंकी सभा सदा करती है और उस सभाका अध्यक्ष इन्द्र बना करता है। अब हम इस सभाका कुछ समीपसे निरीक्षण करेंगे। ऐतरेय उपनिषद्में यही विषय आया है—

अग्निर्वाग्भूत्वा मुखं प्राविशत्, वायुः प्राणो भूत्वा नासिके प्राविशत्, सूर्यः चक्षुर्भूत्वा अक्षिणी प्राविशत्, आपः रेतो भूत्वा शिश्नं प्राविशन् (ऐ. उ.)

'अग्नि वाग्रूपसे मुखमें प्रविष्ट हुआ, वायु प्राण बनकर नासिका द्वारा हृदयमें प्रविष्ट हुआ, सूर्य नेत्र बनकर आंखोंमें प्रविष्ट हुआ, जल वीर्य बनकर शिश्न इन्द्रियमें प्रविष्ट हुआ' इस प्रकार विश्वके पूरे तेंतीस देव भिन्न भिन्न इन्द्रियों एवं अवयवोंके रूपमें शरीरमें आकर भिन्न भिन्न स्थानोंपर आकर रहने लगे। इस प्रकारकी यह देवसभा इस शरीर में भरी है और इसका अध्यक्ष इन्द्र बना है। ये देव इस शरीरमें किस प्रकार प्रविष्ट हुए? इसका स्पष्टीकरण अथर्व वेदमें इस प्रकार मिलता है—

यस्य त्रयस्त्रिंशद्देवता अङ्गे सर्वे समाहिताः॥१३॥
यस्य त्रयस्त्रिंशद्देवता अङ्गे गात्रा विभेजिरे।
तान् वै त्रयस्त्रिंशद्देवानेको ब्रह्मविदो विदुः॥२७॥
अ: १०-७

'ये तेंतीस देव शरीरके अवयवोंमें तथा इन्द्रियोंमें आकर रहे हैं' अथर्ववेदका यही वर्णन ऐतरेय उपनिषदने विशेष विस्तारसे दिया है। हमारे शरीरकी प्रत्येक इन्द्रियमें और अवयवमें इस प्रकारसे समस्त देव आकर रहे हैं। इस प्रकार यह शरीर 'देवोंका मन्दिर' है।

सर्वाह्यस्मिन्देवता गावो गोष्ठ इवासते। अथर्व०।

'जिस प्रकार गौशालामें गायें रहती हैं उसी प्रकार सब देव यहाँ आकर बस गये हैं' सब देवोंका आगमन यहाँ हुआ है और वे अपने अपने निश्चित स्थानोंपर आकर बस गये हैं। इस प्रकार हमारा यह शरीर देवोंका मन्दिर है। इस देव सभाका मैं ही अध्यक्ष हूँ अर्थात् मैं इन्द्र हूँ और यही 'मैं' पुरुषोत्तम हूँ, यह विवरण पहले ही स्पष्ट किया जा चुका है। यही इन्द्र, यही उत्तमपुरुष, यही आत्मा एवं यही ब्रह्म है। कितनी अधिक है हमारी योग्यता! कितना है यह हमारा सामर्थ्य!! अपनी इस शक्तिको प्रगट करके उसे अपने आधीन करनेके लिये ही योगमार्गोंके अनेक अनुष्ठान हैं। इस शक्तिके प्रति आज हमारा उपेक्षा भाव है। आज हम इसी देहको 'पूयविण्मूत्रका गोला' कहते हैं!! यह कितना अमङ्गल एवं वीभत्स वर्णन है! हम देव मन्दिरमें थे। वहाँ से अवनत होते होते हमारा पतन शौच रूपमें हो गया!! विचारोंका यह परिवर्तन हमारी मनोभूमिकामें हो चुका है और यही हमारे पतनका मुख्य कारण है।

मैं 'उत्तम पुरुष' हूँ यह विचार समाप्त हो गया और उसके स्थानपर 'मैं पापी हूँ' यह विचार आ गया। 'मेरा शरीर देवमन्दिर है' यह उच्च कल्पना जाकर उसके स्थान पर यह मेरा शरीर 'पूयविण्मूत्रका गोला' है, यह कुकल्पना आगई। पुरुषोत्तमकी यह कैसी दुरवस्था है?

शक्तिवृद्धिका अनुष्ठान

जिस समय यह कल्पना थी कि यह शरीर देवमन्दिर है उस समय शरीरकी शक्ति बढानेके लिये अनेक अनुष्ठान किये जाते थे। हम सब यह विश्वासपूर्वक अनुभव करते हैं

कि बाहरके विश्वमें जो बडे देव विद्यमान हैं उन्हींके अंश हमारे शरीरमें आकर बस गये हैं तथा बाह्यस्थित देवोंकी सहायतासे ही हमारे शरीरकी शक्ति बढती रहती है। बाहरके प्राणवायुकी सहायतासे हम अपने प्राणोंकी शक्ति बढा सकते हैं, बाहरके सूर्यप्रकाशसे हमारे नेत्रोंका बल बढता रहता है। बाहरके जलतत्त्वसे हमारे शरीरका जलतत्त्व व्यवस्थित रह सकता है। बाहरका अन्न खाकर ही हम जीवित रहते हैं। इस प्रकार बाहरके विश्वमें स्थित इन देवोंकी सहायतासे हम अपने शरीरकी शक्ति एवं अन्तःकरणकी शक्ति बढा सकते हैं। यह शक्ति जिस अनुपातसे बढेगी और जिस अनुपातसे वह हमारे आधीन रहेगी उसी प्रमाणसे हमारी आत्माकी शक्ति भी अभिव्यक्त हो सकती है।

अपनी इन शक्तियोंके अभिव्यक्तिकरणका अनुष्ठान करनेके लिये ही समस्त योगसाधनोंका निर्माण किया गया है। जब तक इस शरीरको देवमन्दिर माना जाता था और जबतक बाहरके विश्वव्यापक देवोंका एवं अपने शरीरमें स्थित शक्तियोंका सम्बन्ध लोगोंको मालूम था तब तक यहां की दिव्य शक्तियोंकी अभिवृद्धि करनेका अनुष्ठान लोग किया करते थे। किन्तु यह उच्च कल्पना तो समाप्त हो गई और इस देहको 'पूयविण्मूत्रका गोला' माना जाने लगा, जिसके कारण इस शरीरके विषयमें मनमें घृणा उत्पन्न हुई। परिणाम यह हुआ कि इसके बाद शारीरिक एवं अन्तःकरण सम्बन्धि शक्तियोंको बढानेका अनुष्ठान स्वयमेव बंद हो गया। पूयविण्मूत्रके गोलेकी शक्ति भला कौन बढायेगा और किस लिये?

हमने ऐसे आदमी देखे हैं कि जो अपने शरीरके विषयमें सदैव निन्दात्मक भाषण करनेमें ही अपना भूषण मानते हैं। ऐसा करनेसे वे समझते हैं कि हम बडे भारी ज्ञानी हैं। अनेक साधुसंतोंके साहित्यमें भी इसे 'विण्मूत्रका गोला' आदि कहा गया है। ये विचार जैन और बौद्धोंने आरम्भ किये और उन्हींका अनुसरण अन्य विचारकोंने किया। शरीरके सम्बन्धमें विण्मूत्र गोलेकी कल्पना इन साधुसन्तोंके प्रचारके कारण आज आबालवृद्धोंमें फैली हुई है। कथा-प्रवचनकारोंके प्रवचनोंमें पूर्वरङ्गमें यही प्रतिपादन किया जाता है। इस प्रकारकी इन अमङ्गल कल्पनाओंका यह प्रचार हजार डेढ हजार वर्षोंसे इस देशमें प्रचलित है और आज तो यह कल्पना दृढमूल हो चुकी है। प्राचीन कालके विचार कितने ऊंचे थे और वे ही बादमें कितने विपरीत दिशामें बदल गये, इसका विचार हमें करना चाहिये। हमें देवमन्दिरमें रहना है अथवा शौचकूपमें गिरना है? इसका निर्णय आज हमें करना है। ऐसा करने पर स्वयं ही निर्णय हो जाएगा कि हमें किन विचारोंको मानना है। और भी देखिये—

सप्तऋषियोंका आश्रम

इस शरीरको ऋषिगण 'सप्तऋषियोंका आश्रम' मानते थे। देखिये—

सप्त ऋषयः प्रतिहिताः शरीरे, सप्त रक्षन्ति सदमप्रमादम्। सप्तापः स्वपतो लोकमीयुः तत्र जाग्रतो अस्वप्नजौ सत्रसदौ च देवौ।
(वा. य.)

"सप्त ऋषि प्रत्येक शरीरमें हैं। ये सात ऋषि प्रमाद न करते हुए इस यज्ञशालाका रक्षण किया करते हैं। यहाँपर सात नदियाँ भी हैं, वे सोते समय सोनेवालेके स्थानकी ओर बहा करती हैं और जागते समय बाहरकी ओर बहा करती हैं। वहाँ दो देव जागकर इस आश्रमका रक्षण किया करते थे।"

इस मन्त्रमें इसी शरीरको 'सप्तऋषियोंका आश्रम' कहा गया है। यह कल्पना कितनी उदात्त, पवित्र और उच्च है। यह शरीर मानो तपोभूमि है जहाँ सात नदियां बह रही हैं। इन नदियोंके पवित्र संगमस्थानपर सात ऋषि तप करते हुए बैठे हैं। इस प्रकारका यह सप्तर्षियोंके पवित्र-तपसे पुनीत हुआ आश्रम है।

ऋषि लोग ज्ञान लिया और दिया करते हैं। यहाँ मस्तकमें दो आंखें, दो कान और दो नासापुट तथा एक मुख ये सात ऋषि हैं। ये सब ज्ञान प्राप्त कर रहे हैं तथा ज्ञान दे रहे हैं। इनका यह ज्ञान-व्यवहार निरन्तर जारी है। ये ऋषि हैं जो दूरका देखा करते हैं तथा यदि वह भविष्य भयप्रद हो तो उस विषयमें ये मनुष्यको सावधान किया करते हैं। ये यदि संयमी हुए तो ये ही ऋषि और देव बन जाते हैं तथा मनुष्यके लिये बडे लाभदायी सिद्ध

हो जाते हैं; किन्तु यदि ये भोगी हो गये तो ये ही राक्षस बन जाते हैं। भोगी एवं संयमीका ही भेद राक्षस और देवोंमें है।

दशरथ एवं दशमुख

इसके लिये एक उदाहरण प्रस्तुत करने जैसा है। हमारे यहाँ दशरथ-दश इन्द्रियोंका संयम करनेवाला-राजा है और उसका पुत्र 'राम' सबको आनन्द देनेवालेके रूपमें प्रसिद्ध है। यह देव है। संयमका फल देवत्व है। दूसरा भोगी दशमुख रावण है। यह इन्द्रियोंसे भोग भोगनेवाला तो है; किन्तु रावण अर्थात् 'रोनेवाला' है। उसके पल्ले रोनेके अतिरिक्त और कुछ नहीं है। इसकी लङ्का जलकर खाक हो जाती है और अन्तमें इसका भी सम्पूर्ण विनाश हो जाता है। वह असुर या राक्षस है, क्योंकि असंयमका यही निश्चित परिणाम होता है। संयमसे ऋषि या देव बना जा सकता है। भोगसे यदि प्रथम सुख मालूम हो तब भी अन्तमें रोना पडता है और सर्वस्वनाशका दुःख भोगना पडता है। यही कारण है कि 'इस शरीरको ऋषियोंका आश्रम कहा गया है और यहाँपर इन्द्रिय संयम, मनोनिग्रह और तप करना है' आदि बातें सूचित की गई हैं। नरका नारायण होनेका यही मार्ग है। वह इसी शरीरमें किया जा सकता है; अतएव यह ऋषियोंका आश्रम है।

दो देवोंका जागृत पहरा

सात नदियोंके प्रदेशका अन्वेषण संशोधक लोग पंजाबसे अफगानिस्तान तक कर रहे हैं। किन्तु उन्हें इन नदियोंका कहीं पता नहीं चलता। वहाँ सात नदियाँ हैं ही नहीं, फिर मिलेंगी कैसे? इन नदियोंका उल्लेख हमने ऊपर किया है। ये ही वे सात नदियाँ हैं। यह सात नदियोंका पवित्र प्रदेश है। इस प्रदेशमें सप्त ऋषियोंका यह आश्रम है। यहाँ दो देव सदैव जागृत रहकर इस आश्रमका राक्षसोंके आक्रमणसे संरक्षण किया करते हैं। ये 'दो देव' हैं 'श्वास और उच्छ्वास'। शरीरकी रक्षा करनेवाले ये दो पहरेदार हैं। इस आश्रमकी रक्षा करनेके लिये ये दो देव सदैव पहरा देते हुए खडे हैं। ऋषियोंका यज्ञ निर्विघ्न रूपसे पार हो, इस लिये वे दो देव सतत जागृत पहरा दे रहे हैं।

ऋषि आश्रमकी यह कल्पना कितनी उत्तम, पवित्र एवं आनन्ददायिनी है यह हमें देखना है और इसके साथ इस शरीरको, इस जीवको कैदीकी जो उपमा दी जाती है उससे इसकी तुलना करनी है। ऐसी निन्द्य कल्पनायें आज हमारे समाजमें घर कर गई है। इन दो कल्पनाओंमेंसे कौनसी कल्पना हमें स्वीकारनी चाहिये?

द्वारका और अयोध्या

और एक वैदिक कल्पना देखिये। यहाँपर द्वारका एवं अयोध्या नामोंसे इसी शरीरका वर्णन किया है—

अष्टाचक्रा नवद्वारा देवानां पूः अयोध्या।
तस्यां हिरण्मयः कोशः स्वर्गो ज्योतिषाऽऽवृतः ॥३१॥
तस्मिन् हिरण्मये कोशे त्र्यरे त्रिप्रतिष्ठिते।
तस्मिन् यत् यक्षं आत्मन्वत् तद्वै ब्रह्मविदो विदुः ३२
प्रधाजमानां हरिणीं यशसा संपरिवृताम्।
पुरं हिरण्मयीं ब्रह्मा विवेशापराजिताम् ॥ ३ ॥
अथर्व १०।२

"आठ चक्र एवं नौ द्वारवाली यह देवोंकी नगरी अयोध्या है। इसमें तेजस्वी स्वर्ण और सुवर्णका कोश भरपूर है। इस सुवर्ण नगरीमें एक आत्मा है, जिसे ब्रह्मज्ञानी लोग जानते हैं। यह नगरी तेजस्वी, यशस्वी, मनोहारिणी, सुवर्णमयी एवं अपराजित है। इस नगरीमें विजयी ब्रह्मा प्रवेश करता है, वह वहाँ राज्य करता है।"

यह नगरी नौ द्वार होनेके कारण द्वारावती अथवा 'द्वारका' है और इसका पराभव कभी भी नहीं होता इसलिये यह 'अयोध्या' है। यह सुवर्णकी तेजस्वी देवनगरी है। यह हमारे शरीरका वर्णन है। इसे यहाँपर (देवानां पूः) देवोंकी पुरी कहा गया है। अनेक देव यहाँ आकर रहा करते हैं। कौनसा देव कहाँ आकर रहता है, इसका वर्णन पूर्व किया जाचुका है। यह देवनगरी, यह स्वर्ग, यह ब्रह्मलोक, यही अमरावती और यही अयोध्या है। कितनी ऊंची कल्पनायें इस शरीरके विषयमें वेदमन्त्रोंमें वर्णित हैं। हमारा शरीर इतना सुन्दर है। स्वर्गका सुख हमें यहींपर प्राप्त हो सकता है। देवोंके साथ यहीं पर निवास किया जा सकता है। यहीं ब्रह्मसुखका अनुभव किया जा सकता है। ऐसा है यह हमारा शरीर। यह दीन या तुच्छ तो

कदापि नहीं हो सकता। जो देवोंकी नगरी है वह भला हीन दीन क्यों होने लगी ?

आज इसी शरीरको मलिन, क्षणभङ्गुर और दुःखकारण माना जाने लगा है; किन्तु उपर्युक्त वेदमन्त्रोंमें इसे स्वर्ग कहा गया है। वेदोंके इसी स्वर्गको आज मलोंका आगर, दुःखदायी, और क्षणभङ्गुर माना जाने लगा है। दो विभिन्न कालोंमें कल्पनाका कितना बड़ा अन्तर पड़ गया है !!

कुरुक्षेत्र

यह शरीर कुरुक्षेत्र है। इस स्थानपर आकर यज्ञ करनेकी इच्छासे समस्त देव आकर बसते हैं और सौ वर्षोंतक यज्ञ करते हैं। इस प्रकारकी यज्ञभूमि यह शरीर है। समस्त देवोंद्वारा मिलकर चलाया हुआ यज्ञ यहाँपर प्रचलित है। वह यह बीचमें बिनाविघ्न हुए उत्तम रीतिसे सफल होना चाहिये।

कुरुक्षेत्रं वै देवानां देवयजनं (जाबाल उ. १)

'यह शरीररूपी कुरुक्षेत्र देवोंके यज्ञकरनेका यज्ञक्षेत्र है' देव यहाँ आते हैं और शतसांवत्सरिक यज्ञ करनेके लिये अपने अपने स्थानोंपर बैठते हैं। यज्ञमें अनेकोंकी अपमृत्यु होनेके कारण बीचमें ही यज्ञ नष्ट हो जाता है। यहाँ जो १२० वर्ष तक जीवित रहेगा वह शतसांवत्सरिक यज्ञ पूर्ण कर सकता है। 'पुरुषः वै यज्ञः' यह मनुष्य रूपी जो पुरुष है वही यज्ञ है। मनुष्य स्वयं यज्ञ है। मनुष्यका शरीर कुरुक्षेत्र है। समस्त देव यहाँ आते हैं और यज्ञ करते हैं। इस प्रकार मनुष्यका जीवन यज्ञमय होना चाहिये।

उपर्युक्त कथनका यही एकमात्र अभिप्राय है कि मनुष्य का समस्त जीवन यज्ञमय हो। ईश्वरका अंश और ३३ देवोंके अंश ये सब यहाँ पर उपस्थित होते हैं। वे यह निश्चय करते हैं कि यज्ञ करना चाहिये और इसके लिये इस शरीररूपी यज्ञभूमिको तैयार करते हैं। इतनी ऊंची कल्पना जीवनके विषयमें यहाँ की गई है।

अब तक हमने शरीरके विषयमें जिन वैदिक कल्पनाओंका उल्लेख किया है वे इस प्रकार हैं- मैं पुरुषोत्तम हूँ, ब्रह्म हूँ, इन्द्र हूँ। मेरा शरीर देवमन्दिर है, यह ऋषियोंका पवित्र आश्रम है, सप्त नादियोंका यह पवित्र तीर्थ है, यह यज्ञभूमि है, पवित्र कुरुक्षेत्र है। पाठक इन कल्पनाओंको अपने मनमें रखें और उसके पश्चात्-

यह शरीर पूयविण्मूत्रका गड्ढा है, यह तुरङ्ग है, यह अमङ्गल है। मैं पापी हूँ, मेरा जीवन पापपूर्ण है, मेरे पाप संकल्प हैं, मेरी उत्पत्ति पापसे हैं, मैं दीनहीन दुर्बल और अपराधी हूँ। मैं यहाँ कारावासमें पड़ा हुआ कैदी हूँ। यह विश्व एक बड़ा कारागृह है, मैं उसमेंका एक कैदी हूँ, यह सब क्षणभङ्गुर है, यह सब दुःखमय है, ये प्रचलित कल्पनायें हम देखें और हमारा जीवन किस भूमिपर आधारित है इसका विचार करें।

जैसे विचार वैसे आचार

जैसे हमारे विचार होते हैं वैसे ही हमारे आचरण होते हैं। जैसे- मान लीजिये कि हम एक गांवमें गये और वहाँ पता लगा कि इस गांवमें महामारीका भयङ्कर उपद्रव है। यह सुनते ही हम तत्काल वहाँसे भाग कर अन्यत्र जानेका प्रयत्न करेंगे। किन्तु यदि हमें यह पता लगे कि हम ऋषिके एक पवित्र आश्रममें आ गये हैं और इस आश्रममें रहनेपर ही हमारे सम्पूर्ण रोग दूर होंगे और पूर्ण स्वास्थ्य प्राप्त होगा तो हम वहाँपर यावच्छक्य अधिक ठहरनेका प्रयत्न करेंगे।

चोरोंके गांवमें हम मुकाम नहीं करेंगे। अपितु ऋषियोंके आश्रममें सर्वथा निश्चिन्त होकर रहेंगे। हमारे विचारोंका आचरणपर ऐसा प्रभाव पड़ता है। हम चाहे जितनी उदासीन वृत्तिसे इन विचारोंकी ओर देखें तथापि हम यह अवश्य अनुभव करेंगे कि गत दो हजार वर्षोंमें अनेक प्रचारकोंद्वारा क्षणभङ्गुर संसार, यह असार संसार, सर्व-क्षणिक, सर्व दुःखं, यह शरीर पूयविण्मूत्रका गोला है, पापमूलक जन्म, शरीर तुरङ्गवास है आदि जो कुकल्पनायें हमारे अन्दर फैलाई गई उनका अनिष्ट परिणाम हिन्दुओंके सूक्ष्म मनपर हुआ है। यही कारण है कि आजका हिन्दु इह लौकिक सुखोंके विषयमें निरुत्साहित हो गया है। उसे यह जीवन दो दिनोंका लगता है। किन्तु वेद तो 'भूयश्च शरदः शतात्' ऐसा कहता है। कोई भी मनुष्य ऋषि आश्रम अथवा देवमन्दिरमें सौ वर्षोंसे भी अधिक रहनेकी इच्छा करेगा। किन्तु शौचकूपमें किसीकी भी इच्छा अधिक देरतक रहनेकी न होगी। हमने उच्च वैदिक कल्पनाओंका परित्याग कर दिया। वास्तवमें ये कल्पनायें

कितनी ऊंची थी ? किन्तु हमने उनका परित्याग कर दिया और अवैदिक कल्पनाओंको मनमें स्थान दिया। परिणाम स्वरूप इनका यदि हमारे जीवनपर भी अनिष्ट परिणाम हुआ तो इसमें आश्चर्यकी कौनसी बात है। हिन्दुओंका मन इन कलुषित कुविचारोंसे यह इस प्रकार भर गया है और वे आजकी हीनस्थितिको प्राप्त हो गये हैं। इस स्थितिको यदि दूर करना है तो हमें अपने मनके उन कुविचारोंको आमूलाग्र बदल देना चाहिये।

त्यागमय जीवन

हमारी वर्तमान त्यागकी कल्पनाने मूलकी त्यागकी कल्पनाको भी विकृत कर दिया है, 'त्यक्तेन भुञ्जीथाः' (बा. य. ४०।२) 'त्यागसे भोग कर' ऐसा वैदिक ऋषियोंका जो कथन था। किन्तु उनका त्याग और उनकी निवृत्ति संसारका उच्छेद करनेवाली नहीं थी। देखिये—

अनेक स्त्रियोंसे सम्बन्ध करनेकी जो प्रवृत्ति थी उनका निवारण विवाहके विधानद्वारा किया गया। अर्थात् विवाह निवृत्तिमार्गका ही एक स्वरूप है और त्याग ही है। आज तो संन्यास लेकर सन्तान परम्पराका उच्छेद करनेको ही निवृत्ति कहा जाता है। किन्तु यह निवृत्ति राष्ट्रका घात करनेवाली है। जब तक इस निवृत्तिका पालन एक या दो करते हैं तभी तक यह ठीक है; किन्तु यदि सभी लोग इस संन्यास धर्मका पालन करने लगे, तो साराका सारा राष्ट्र तत्काल नष्ट हो जावेगा। यही स्थिति अन्य त्यागोंके विषयमें है। उदाहरणार्थ देखिये—

यदि हम वस्त्रधारण करना छोड दें तो जुलाहे मर जायँगे, घरमें नहीं रहना है, ऐसा निश्चय करलें तो राज और बढई मरने लगेंगे। जबतक इस त्यागका आचरण सब लोग नहीं करते तभी तक इनका प्रतिपादन या कथन भला मालूम होता है। किन्तु यदि सबके सब उसपर आचरण करने लग जांय तो इससे राष्ट्रकी अधोगति हुए बिना कदापि न रहेगी।

वैदिक निवृत्ति समर्याद होनेके कारण राष्ट्रोन्नतिके लिये पोषक थी। आगे जाकर बौद्धयुगमें उसे अमर्यादित किया गया। इसका कारण यह था कि बुद्धोत्तर कालमें इस जगत् के विषयमें और अपने शरीरके विषयमें अत्यन्त हीन कल्पना निर्माण हो गई और इस संसारका त्याग किये बिना हमारी आत्मोन्नति नहीं हो सकती, ऐसे असत्य विचार रूढ होगये। इस कारण सर्वस्व त्याग ही यदि जीवनका ध्येय बन गया हो तो उसमें कोई अस्वाभाविकता नहीं है।

जो अपना ध्येय सर्वस्व त्याग बनाता है उसके द्वारा इस संसारका क्या भला हो सकता है ? लोग पूर्णतः सर्वस्व त्याग नहीं करते। इसीलिये उनके द्वारा लोकोन्नतिका थोडा बहुत कार्य हो जाता है। अस्तु। अब हम एक पराकाष्ठातक पहुँची हुई विपरीत विचारसरणी पर थोडासा प्रकाश डालेंगे।

निवृत्तिमार्गका ज्ञान

उपनिषद्, ब्रह्मसूत्र एवं गीता ये तीन ग्रन्थ प्रस्थानत्रयीके हैं। इसलिये बडे बडे आचार्योंने यह लिख रखा है कि जब पुत्र बडा हो जाय, घरबार सम्भाल ले, तब गृहस्थका भार लडकेपर डालकर फिर इन ग्रन्थोंका अध्ययन करें। देखिये—

गर्भाधानादि-संस्कार-संस्कृतं अधीतवेदं जनितसुतं अनुष्ठितयज्ञं निस्पृहं मुमुक्षं शिष्यं पुत्रं वा ऋषिरूपदिशन् आह। ईशावास्यमिति।

उवट, महीधर भाष्य

जिसके गर्भाधानादि संस्कार हो चुके हैं, जिसने वेदोंका अध्ययन किया है, जिसके लडके हो चुके हों, जिसने यज्ञ किये हैं, जो निरिच्छ है, जिसे केवल अपनी मुक्ति प्राप्त करनेकी इच्छा है ऐसे शिष्यको अथवा पुत्रको ऋषि उपदेश करते हैं।'

पुत्र उत्पन्न होनेपर तथा उनके बडे हो जानेपर, सांसारिक समस्त इच्छायें तृप्त होजानेपर जिसकी केवल मुक्त होजानेकी इच्छा हो, अर्थात् घर गृहस्थीमें जिसके लिये कुछ भी करना शेष न रहा हो, ऐसे व्यक्तिको ईश उपनिषद् सीखना चाहिये। यहाँ और बातें छोड भी दी जावें तो महत्त्वपूर्ण बात ध्यान देने जैसी है और वह यह कि 'पुत्र उत्पन्न होजानेपर तथा इसके पश्चात् पुत्र होनेकी सम्भावना न रहनेपर इस अध्यात्मशास्त्रका अध्ययन करे।' पुत्र उत्पन्न होजानेपर ईशोपनिषद् सीखें तथा अन्य गीता, उपनिषदादि ग्रन्थ सीखें, ऐसा

उक्त आचार्योंका अभिप्राय दिखाई देता है। यदि यह बात सत्य मान ली जावे तो उसका क्या परिणाम होगा, यह देखिये—

ब्रह्मज्ञानका परिणाम सुप्रजा

बृहदारण्यक उपनिषद्में समस्त उपनिषद् विद्याओंका उपदेश कर देनेके पश्चात् 'सुप्रजा-जनन' की विद्या कही गई है। सुप्रजाजननके लिये मातापिता कैसा व्यवहार करें, क्या खायें; क्या पढ़ें, मनमें कैसे विचार धारण करें, जिससे निःसंशय इष्टसन्तति निर्माण की जासके। जिस प्रकारकी सन्तति निर्माण करना चाहें उस प्रकारकी सन्तति निर्माण की जासकती है। यही आशय इस अन्तिम अध्यायका है। ज्ञानी, शूर, व्यवहारकुशल, एक या चारों वेदोंका ज्ञाता, जैसा चाहें वैसा पुत्र उत्पन्न किया जासकता है। यही बातें इस उपनिषद्के अन्तमें वर्णन की गई हैं। यदि पुत्र उत्पन्न करनेके पश्चात् ब्रह्मविद्या सीखनी हो तो इस अध्यायकी बृहदारण्यक उपनिषद्में होनेकी कोई आवश्यकता ही नहीं है। किन्तु वह अध्याय यहाँपर है। अथर्ववेद भी उसीका समर्थन करता है—

यो वै तां ब्राह्मणो वेद अमृतेनावृतां पुरिम्।
तस्मै ब्रह्म च ब्रह्मा च आयुः प्राणं प्रजां ददुः॥
(अथर्व० १०।२।२९)

'जो इस अमृतसे भरी हुई ब्रह्मपुरीको जानता है, उसे ब्रह्मकी कृपासे दीर्घ आयुष्य, नीरोग शरीर, एवं सुप्रजा प्राप्त होती है।' अथर्ववेदने ब्रह्मज्ञानका यह फल लिखा है। यहाँपर ब्रह्मकी कृपासे जो प्रजा होगी वह दत्तक तो नहीं होगी !! वह तो औरस सन्तति ही होगी; इसीलिये औरस सन्तति होनेके समयसे पूर्व यह ब्रह्मज्ञान उन स्त्री-पुरुषोंको होना चाहिये। यह है वास्तवमें वेद और उपनिषदोंका कथन। सुप्रजाकी प्राप्ति तो ब्रह्मज्ञानी पुरुषोंको हुआ करती है। यही तो ब्रह्मज्ञानका फल है। प्राचीन वैदिक परम्परा ब्रह्मज्ञानका परिणाम सुसन्तती होना बताती है और आचार्य कहते हैं कि सन्तती होनेपर संसार त्याग करना चाहिये तथा उसके पश्चात् उपनिषदोंका अध्ययन करें। अब हमें सचमुच किसकी बात माननी चाहिये !

विचारोंका यह इस प्रकारका भयङ्कर परिवर्तन हुआ है जो कदापि उपेक्षणीय नहीं माना जाना चाहिये।

विचार करके तो देखिये

अब हम प्रमाणवचनोंको छोड़कर इस बातपर यहाँ विचार करेंगे। मातापिता सुशिक्षित, ज्ञान-विज्ञान-सम्पन्न व सदाचारी, ब्रह्मनिष्ठ एवं ब्रह्मज्ञानी हों तो उनकी सन्तानें अवश्य ही उत्तम होंगी, इसमें किंचिन्मात्र भी संशय नहीं है। वेद और उपनिषदोंका यही ध्येय था। यह बात उपर्युक्त वचनोंसे स्पष्ट सिद्ध होती है। प्रथम आयुमें कन्या और पुत्र उत्तम ज्ञान प्राप्त करें, समस्त अध्यात्मज्ञानका अध्ययन भी करें और फिर उनका विवाह हो,

ब्रह्मचर्येण कन्या युवानं विन्दते पतिम्। (अथर्व)

इस प्रकार विवाह हो जानेके पश्चात् वे बृहदारण्यकोपनिषद्के कथनानुसार, ध्येयनिष्ठापूर्वक, मैं अमुक प्रकारकी सन्तती निर्माण करूंगा, ऐसा संकल्प करके उसके लिये अपेक्षित नियम-बन्धनोंका पालन करके उत्तम सन्तती निर्माण करें। ब्रह्मविद्याका यही फल है। 'अथर्ववेद एवं बृहदारण्यक उपनिषद् जो कहते हैं वह सत्य है' ऐसा विचार करनेपर स्पष्ट प्रतीत होता है।

किन्तु आज तो हम इसके सर्वथा विपरीत मानने लगे हैं। मान लीजिये कि हम उपर्युक्त विचारोंके अनुसार पुत्रपर संसारका सब भार डालकर उपनिषदोंका अध्ययन प्रारम्भ करें और फिर १० वर्षोंमें ब्रह्मज्ञानकी प्राप्ति हो तो ९० वें वर्ष ब्रह्मकी कृपा होनेपर भी औरस सन्तती उत्पन्न करनेकी सम्भावना ही नहीं रहती तथा दत्तक पुत्र प्राप्त करनेके लिये फिर ब्रह्मकी कृपाकी भी आवश्यकता बिल्कुल नहीं रहती।

मैंने वेदान्त विषयके एक प्राध्यापकसे यह प्रश्न किया कि 'बृहदारण्यक उपनिषद्के अन्तमें श्रेष्ठ पुत्र उत्पन्न करनेका अध्याय है, उसका क्या प्रयोजन? तथा उसका आध्यात्मिक तत्त्वज्ञानसे क्या सम्बन्ध?' इसका उत्तर उन्होंने यह दिया कि 'बृहदारण्यक शतपथमेंसे लिया गया और चूंकि शतपथमें वह अध्याय था, इसलिये बृहदारण्यक में भी वह आ गया। इस अध्याय और तत्त्वज्ञानका कोई सम्बन्ध नहीं है।'

अर्थात् इनके मतसे बृहदारण्यक उपनिषद्का संग्रह अज्ञानी था तथा अनजानेमें उन्होंने वह अध्याय यहाँपरके लिया। ऐसे लोग हमारे विद्यार्थियोंको तत्त्वज्ञान सिखायें,

हमारे विद्यार्थी सीखें और उसकी तेजस्विता संसारमें फैलावें। कितनी शोचनीय स्थिति है यह !

आचरणके लिये ही तत्त्वज्ञान

वास्तविक परिस्थिति यह है कि तत्त्वज्ञानका अस्तित्व मनुष्यके आचरणमें उतारनेके लिये ही है। तत्त्वज्ञान केवल वादविवादका विषय नहीं है। मनुष्यके आचरणमें उतरकर मनुष्यका निर्माण तदनुरूप होना चाहिये। मानवी आचरण पवित्र एवं शुद्ध होना चाहिये। नरका नारायण बनना चाहिये। इसे ब्राह्मी स्थिति प्राप्त करनी चाहिये। क्योंकि इसी-लिये प्रत्येक आर्यशास्त्रमें अध्यात्मशास्त्र गुम्फित किया गया है। मनुष्यका जीवन ही इस ज्ञानद्वारा पवित्र बनना चाहिये।

आज गीता और उपनिषदोंके अध्यापनवर्ग चालू हैं। किन्तु इनमें वे लोग आते हैं जो पेन्शनर हैं, जिन्हें आंखोंसे बराबर दिखाई नहीं देता और कानोंसे बराबर सुनाई नहीं देता। जिसके शरीरमें पुरुषार्थ करनेकी शक्ति शेष नहीं है। प्रायः ऐसे ही लोग गीताका अध्ययन किया करते हैं। किन्तु मूल जिस गीताका उपदेश किया गया वह भारतके युवक वीर अर्जुनको किया गया था। उपदेश करनेके समय भगवान भी युवक ही थे। एक युवक द्वारा दूसरे युवकके लिये उपदिष्ट ग्रन्थ आज गलितगात्र वृद्ध पढते हैं। भारतीय युद्ध समाप्त हो जानेके पश्चात् अर्जुनने ३० वर्षोंतक राज्यका संचालन किया था और आन्तरिक एवं बाह्य शत्रुओंका विनाश किया था। अर्थात् गीता एवं उपनिषद् जैसे ग्रन्थ ऐसी आयुमें आत्मसात् करने चाहिये कि उस आयुके पश्चात् कमसे कम ३०-४० वर्षोंतक जनसेवा एवं राष्ट्रसेवा करनेकी शक्ति इसमें रहे।

युद्धोत्तरकालमें स्वयंकी तुच्छता दूर करनेकी रूढी हो गई थी जो आजतक भी प्रचलित है। यह रूढी समाप्त होनी चाहिये। मेरा अर्थात् व्यक्तिका स्वरूप क्या है ? उसकी शक्ति कितनी है ? उसकी कार्यक्षमता कितनी है ? तब इसकी सुन्दर कल्पना युवकोंको हो सकती है। इसी दृष्टिकोणसे आजका पाठ्यक्रम निर्धारित होना चाहिये। अर्थात् स्नातक होनेसे पूर्व उसे अध्यात्मज्ञान, ब्रह्मज्ञान एवं भौतिक विज्ञान प्राप्त होना चाहिये। ऐसे ज्ञानसे युक्त तरुण भारतीय ज्ञानका प्रसार विश्वमें कर सकते हैं; जिससे भारतीय तत्त्वज्ञानकी विशेषता संसारके सामने आ सकती है।

अध्यात्मज्ञान एवं राष्ट्रीय जीवन

यदि अध्यात्मज्ञान व्यक्तिगत जीवनका अवलम्ब बन जाय तो उसके द्वारा मानवी जीवनमें अभ्युदय-निश्रेयसकी सिद्धि हो सकती है। अबतकके विवरणसे यही निष्पन्न होता है। अब हमें यह देखना है कि यही अध्यात्मकी भूमिका राष्ट्रोन्नतिके लिये किस प्रकार सहायक हो सकती है।

(२) अध्यात्मज्ञानसे राष्ट्रीय उन्नति

ऐसा प्रतीत होता है कि अध्यात्मज्ञान आर्योंके जीवनो-पयोगी समस्त शास्त्रोंके आधारस्थानपर विराजित था। प्रत्येक आर्यशास्त्रके आधार स्थानपर अध्यात्मशास्त्रका आधिपत्य अवश्यमेव होगा। महाभारतके युद्धसे पूर्व जिस गीताशास्त्रका उपदेश किया गया था, वह अध्यात्मशास्त्र ही माना गया है। गीताशास्त्रका श्रवण करके अर्जुनका मन यदि शुद्ध न हुआ होता तो वह वनमें जाकर, कन्द-मूल-फल खाकर हरिहरि जपता हुआ अपना जीवन समाप्त कर देता। क्योंकि गीता श्रवणसे पूर्व उसने अपना यही निश्चय कर लिया था।

श्रीरामचन्द्रकी दैववादी प्रवृत्ति दूरकरके, पुरुषार्थ द्वारा सबकुछ प्राप्त कर लेनेकी उत्साही प्रवृत्ति उत्पन्न करनेका समस्त श्रेय 'योगवासिष्ठ' नामक अध्यात्मग्रन्थको ही देना चाहिये। इस ग्रन्थका उपदेश सुनकर श्रीरामचन्द्र दैववादको छोडकर पक्के पुरुषार्थी बन गये।

जिस प्रकार गीताका श्रवण करनेके पश्चात् अर्जुनने कौरवोंकी साम्राज्यशाही को समाप्त कर दिया और अपने राज्यकी फिरसे स्थापना की, उसी प्रकार योगवासिष्ठका उपदेश सुनकर श्रीरामचन्द्रने अपने दैववादी विचार दूर फेंक दिये और अपने अन्दर प्रयत्नवादी विचारोंका उदय करके रावण साम्राज्यका विनाश कर दिया। ३३ कोटि देवोंको रावणकी बन्दिशालासे मुक्त कराया और रामराज्यकी स्थापना की। इस रामराज्यकी प्रशंसा सारा विश्व आजतक करता आ रहा है।

दो स्थानोंपर अध्यात्मशास्त्रका उपदेश दिया गया और दोनों ही स्थानोंपर राष्ट्रीय दृष्टिसे सर्वाङ्गीण उन्नति हुई, यह बात स्पष्ट दिखाई देती है। इससे यह सिद्ध होता है कि अध्यात्मशास्त्र राष्ट्रीय उन्नतिके लिये साधक है।

शान्तिकी स्थापना

संसारको और मनुष्यमात्रको शान्ति चाहिये। मनुष्य शान्तिके लिये छटपटाया करता है। वह युद्ध भी इसीलिये करता है कि जिससे शान्ति स्थापित हो सके। यदि उसके इन प्रयत्नोंके बावजूद युद्ध होते हों तो हों; किन्तु उसका ध्येय शान्ति ही रहता है। यह शान्ति तीन प्रकारकी है। एक वैयक्तिक शान्ति, दूसरी राष्ट्रीय शान्ति और तीसरी जागतिक शान्ति। इस प्रकार इन तीनों शान्तियोंकी स्थापना इस धरतीपर होनी चाहिये। वैयक्तिक शान्ति अन्तःकरण एवं शरीरमें होनेवाली शान्ति है। दूसरी राष्ट्रीय शान्ति है जो राष्ट्रमें हुआ करती है। अर्थात् राष्ट्रमें गुण्डोंका चोर और डाकुओंका, श्वापदादि पशुओंका उपद्रव न हो, रोग न फैलें इत्यादि राष्ट्रीय शान्ति है। जागतिक शान्तिका अर्थ यह है कि जगत्में युद्ध न हों तथा अन्य जागतिक अशान्तिके कारण दूर हों। इन तीनों प्रकारकी शान्तियोंकी इच्छा मनुष्योंके अन्दर है। जनता एतादृश शान्तिके लिये आज अत्यन्त आतुर है। इसीलिये भारतीयोंके प्रत्येक धर्मकार्योंके अन्तमें "ओं शान्तिः शान्तिः शान्तिः" ऐसा कहा जाता है। यह रूढी हजारों वर्ष प्राचीन है। हम जो कुछ करते हैं वह इन तीनों शान्तियोंकी स्थापनाके लिये करते हैं। इस रूढीका यही अर्थ है।

समस्त उपनिषदोंके प्रारम्भ एवं अन्तमें इन तीनों शान्तियोंका उच्चारण अवश्य करना चाहिये, ऐसी अनादि कालसे प्रचलित प्रथा है।

किन्तु हमने तीन शान्तियोंका उच्चारण किया, इसका यह अर्थ नहीं होता कि हमने इन तीनों शान्तियोंकी स्थापनाका कार्य कर लिया। क्या यह सब करनेका दायित्व हमपर है? इस प्रश्नपर हम यदि गम्भीरतासे विचार करें तो यह स्पष्ट विदित हो जावेगा कि इन तीनों शान्तियोंकी स्थापनाका वास्तविक उत्तरदायित्व बहुत कम व्यक्ति अनुभव करते हैं और उस उत्तरदायित्वको निभानेकी शक्ति भी बहुत कम लोगोंपर है।

*

जागतिक शान्ति

आज जागतिक शान्ति स्थापन करनेके कार्यको पूरा करनेकी शक्ति केवल दो पुरुषोंमें ही है। एक है रशियाका अध्यक्ष स्तालिन और दूसरा है अमेरिका का अध्यक्ष ट्रुमैन। ये दोनों यदि मिल जांय और सोच लें तो शान्ति स्थापित हो सकती है और यदि वे सोच लें कि युद्ध करेंगे तो इस सारी पृथ्वीपर युद्ध भडक सकते हैं।

राष्ट्रीय शान्ति

दूसरी शान्ति राष्ट्रीय है। केवल भारतके विषयमें यदि कुछ कहना हो तो यहाँपर श्री जवाहरलाल नेहरू शान्ति स्थापना कर सकते हैं। विदेशसे युद्ध करना या न करना आज उनकी अनुमतिपर निर्भर है। सर्व साधारण जनता आज चाहे जितना हल्ला मचावे तब भी कुछ होना जाना नहीं है। श्रीनेहरू युद्ध करनेका यदि निश्चय करलें तो भारत राष्ट्र युद्धमें समा सकता है। जबतक वे यह कहते हैं कि 'हमें युद्ध नहीं करना है' तभीतक शान्ति रह सकती है। राष्ट्रीय शान्ति भी इस प्रकार बिलकुल गिनेचुने लोगोंके हाथमें रहा करती है।

जागतिक शान्ति एवं राष्ट्रीय शान्ति दोनों ही राज्याधिकारियों द्वारा ही सम्भव है और यदि वे चाहें कि युद्ध हो तो युद्ध भी उन्हींकी इच्छापर अवलम्बित है। अर्थात् युद्ध एवं शान्ति उन्हींकी इच्छापर अवलम्बित रहनेवाली बात है। सदैव ऐसी परिस्थिति रहा करती है। महाभारतका युद्ध अकेले दुर्योधनके दुराग्रहके कारण हुआ और लंकाका युद्ध भी अकेले रावणके हठके कारण हुआ। अन्य बडे बडे पुरुषोंका सारा शान्तिप्रयास व्यर्थ ही गया।

वैयक्तिक शान्ति

वैयक्तिक शान्ति व्यक्तिके अन्तःकरणमें स्थापित करनी होती है; अतः वह प्रत्येक व्यक्तिके अपने अधिकारकी बात है, ऐसा यदि हम कहें तो यह भी सत्य नहीं है। क्योंकि अन्तःकरणकी शान्ति योगसाधनादि द्वारा हुआ करती है और योगसाधन 'सुभिक्षे धार्मिके राज्ये' जहाँ सस्ताई और धार्मिक राज्य हो वहीं सम्भव है। चाहे जहाँपर योगसाधन सम्भव नहीं है और इसीलिये चाहे जहाँ वैयक्तिक शान्ति भी सम्भव नहीं है।

जहाँपर खून, रक्तपात, अग्निकाण्ड, लूट और डाकेजनी होती हो, जहाँकी राज्यव्यवस्था अशान्तिको रोकनेमें समर्थ न हो वहाँ कोई भी किस प्रकारसे योगसाधन कर सकेगा? ऐसे अशान्तिके युगमें और अशान्त देशमें योगसाधना सम्भव ही नहीं है। अतः ऐसे स्थानपर वैयक्तिक शान्तिकी स्थापना भी असम्भव है।

इस सब बातोंसे यह स्पष्ट हो जाता है कि तीनों शान्तियोंका सम्बन्ध राज्यव्यवस्थासे है। यदि राज्यव्यवस्था उत्तम एवं समर्थ होगी तो ही ये तीनों शान्तियाँ स्थापित हो सकेंगी; अन्यथा ये तीनों शान्तियाँ स्थापित न हो सकेंगी। हम लगभग पांच हजार वर्षोंसे 'शान्तिः शान्तिः शान्तिः' चिल्लाते आरहे हैं; किन्तु शान्ति स्थापित न होकर अशान्ति ही बढ़ती जारही है। इसका कारण यह है कि राज्यशासनशक्ति जिनके आधीन है उनके मनमें यह बात नहीं है कि शान्तिस्थापित हो और जो शान्तिका अघोष करते हैं उनके पास राज्यशासन शक्ति नहीं होती।

जिन ऋषियोंने प्रथम तीनबार शान्तिका उच्चारण किया, उन्हें यह विदित था कि राज्यशासनशक्तिसे ही इन तीन शान्तियोंकी स्थापना सम्भव है। उस समयके ऋषि राज्यशासन शक्तिका उपयोग कर सकते थे; इसी लिये उनके 'शान्ति' उच्चारण करनेका महत्व है। संसार में उन्हें स्थायी शान्ति स्थापित करनी थी और इस विषयमें उनके पास एक सुव्यवस्थित योजना भी थी। इसीलिये उन्होंने 'समुद्र पर्यन्तायाः पृथिव्याः एकराट्' समुद्रतक पृथ्वीका एक सार्वराजा होना चाहिये और उसका विधान भी एक ही होना चाहिये, ऐसा घोषित किया था। यह घोषणा पूजा आदि के अवसरोंपर आज भी ब्राह्मण करते हैं; किन्तु उनके हाथमें राज्य-सत्ता नहीं रहती। ऐसी स्थितिमें इस घोषणाका कोई महत्व नहीं रह जाता। इस प्रकारसे विचार करनेपर यह प्रतीत होता है कि प्रत्येक उपनिषद्के आरम्भ और अन्तमें किया जानेवाला यह त्रिवार शान्तिघोष राजकीय स्वरूपका है। इस घोषके साथ राज्यशक्ति होनेपर ही शान्तिस्थापना सम्भव है।

उपनिषदोंका शान्तिमन्त्र आध्यात्मिक ध्येयका एक अंश है और इसका सम्बन्ध इस प्रकार राष्ट्रीय एवं अन्तर्राष्ट्रीय स्वरूपकी राजनीतिसे है। बहुत बड़ी राजकीय योजना और बहुत बड़ी राज्यशासन शक्ति पीछे होनेपर ही त्रिवार शान्तिका कुछ मूल्य हो सकता है। अन्यथा केवल खोकले शब्दोंके उच्चारणसे क्या लाभ?

अध्यात्मका राष्ट्रीय जीवनसे क्या सम्बन्ध है। यह बात इस विवरणसे स्पष्ट हो जाती है। आजके अध्यात्मशास्त्रका अध्ययन करनेवाले यह समझते हैं कि आन्तरराष्ट्रीय, राष्ट्रीय एवं प्रान्तीय राजनीतिसे हमारा कोई सम्बन्ध नहीं है। वही नहीं अपितु स्वयंके घरके प्रबन्धसे भी मुझे कोई सरोकार नहीं है। मैं अकेला रहूँगा, किसीसे सम्बन्ध न रखूंगा एवं आध्यात्मिक उन्नति प्राप्त करूँगा, आदि। किन्तु ये विचार अशुद्ध हैं, गलत हैं। ऐसा होना कभी भी सम्भव नहीं है।

अमृत प्राप्ति संघशः होती है

यजुर्वेद अ. ४० ईशोपनिषद्में स्पष्ट रूपसे कहा है कि 'संभूत्या अमृतं अश्नुते' सम्भूतिसे ही अमृतकी प्राप्ति होती है। 'सम्भूति' अर्थात् सं= एकरूप होकर, भूति= रहना। संघ बनाकर रहनेसे अमरत्व की प्राप्ति होती है। व्यक्ति तो मरेगा ही। व्यक्तिका अमर होना असम्भव है। संघ अमर है। हिन्दु व्यक्ति मरते रहते हैं; किन्तु हिन्दु समाज अमर है। सम्भूति द्वारा यह इस प्रकार अमरत्व प्राप्त हो सकता है।

प्रजया अग्ने अमृतत्वं अश्याम। ऋ०

प्रजा द्वारा अमरत्वकी प्राप्ति होती है। अखण्डित प्रजासातत्यसे अमरत्व प्राप्त होता है। इसी प्रकार शिष्य परम्परासे अमरत्व प्राप्त हुआ करता है। संघमें रहनेसे, प्रजासातत्यसे, शिष्य परम्परासे अमरत्व प्राप्त होता है। यह बात अच्छी प्रकारसे सिद्ध की जा सकती है।

एक मनुष्यको दस पुत्र हुए। इस प्रकार प्रत्येक पीढ़ीमें होता गया तो तीसवीं पीढ़ीको धरतीपर रहनेके लिये उनके वंशजोंको स्थान ही न रहेगा। किन्तु यह केवल संख्याकी बात हुई। 'न अस्य कुले अब्रह्मवित् भूयति' ऐसा माण्डूक्योपनिषद्में कहा गया है। जो ओंकारकी उपासना करता है उसके कुलमें ब्रह्मज्ञानहीनपुरुष उत्पन्न नहीं होते। सन्तति हो और वह ज्ञानसम्पन्न हो, यह कितनी बड़ी महत्वाकांक्षा है। 'हम ज्ञानविज्ञानसम्पन्न अविच्छिन्न सन्तति परम्परासे अमर होंगे'। यह महत्वाकांक्षा वैदिक

ऋषियोंकी थी और ऐसी महत्त्वाकांक्षा किसीके भी लिये भूषणावह ही होगी। दो चार पीढ़ियों तक निरन्तर विद्वान उत्पन्न होते रहें तो उस कुलका कितना गौरव होता है। यहाँ तो इस प्रकारकी सन्तान परम्परासे आनन्त्यकी प्राप्ति करनी है। यदि किसी कुलमें बीस पीढ़ियोंतक अविच्छिन्न ज्ञान परम्परा रहे तो उसकी कीर्ति कितनी होगी! शिष्य परम्परासे भी इस प्रकार आनन्त्य प्राप्त हो सकता है। वसिष्ठ-विश्वामित्रादि गोत्र पुत्र परम्परा और शिष्य परम्परा दोनोंसे आनन्त्य प्राप्त करनेवाले कुल थे।

व्यक्ति विश्वका सम्बन्ध तोड़कर मुक्त होती है, इस प्रकारकी जो मुक्तिकी कल्पना सर्वत्र की जाती है वह इन प्राचीन ऋषियोंके मनमें भी नहीं आई थी। अपने संघकी वृद्धि करके, पुत्रपरम्परा एवं शिष्य परम्परा अविच्छिन्न रूपेण सुरक्षित रखकर आनन्त्य प्राप्त करना ही ऋषिजीवन का आदर्श था। मैंने यह ज्ञान ढूंढकर निकाला है और इसे मैं इन तीनों परम्पराओं द्वारा स्थायी बनाऊंगा, ऐसे भाव यहाँ हैं। सारे विश्वका त्याग करके केवल मैं ही मुक्तिका-अमृतपान करता रहूँगा, ऐसे भाव यहाँ नहीं है। सम्भूति समुदाय, समाज, राष्ट्र, मानव समष्टि इस प्रकार यह सम्बन्ध उत्तरोत्तर वृद्धिगत होता जाएगा। इसके द्वारा एक होकर हमें समुदायका हित साधन करना है। पृथक् पृथक् होनेका भाव यहाँपर नहीं है। यह संगठन बढ़कर समुदतक व्यापक समस्त पृथ्वीके मानवोंतक पहुँचाना है। यह विश्व एक कुटुम्ब या एक शरीर है, ऐसा अनुभव हमें प्राप्त करना है।

सबका कारणशरीर एक

स्थूल, सूक्ष्म और कारण इस प्रकार मनुष्यके तीन शरीर हुआ करते हैं। कोई कोई एक चौथा महाकारण शरीर भी मानते हैं। प्रत्येकका स्थूल एवं सूक्ष्मशरीर भिन्न भिन्न हुआ करता है। किन्तु कारणशरीर समस्त मानव जातिका एक ही होता है। वैयक्तिक भाव केवल स्थूल एवं सूक्ष्म शरीरके विषयमें ही सीमित रहता है। कारणशरीरमें जाकर पृथक् पृथक् वैयक्तिक भाव रहता ही नहीं है। क्योंकि वह कारणशरीर सबका मिलकर एक है। मुक्तिमें अवस्थित अमृत यहींपर संचित रहता है। इसी लिये इस प्रकारकी सम्भूतिद्वारा अमृतत्वकी प्राप्ति होती है। अविच्छिन्न ज्ञानकी परम्पराद्वारा अमरत्वकी प्राप्ति होती है, ऐसा कहा गया है।

जागृत अवस्थाके मनमें व्यक्तिभावका पार्थक्य है। एक बार जागृतिमेंका मन स्तब्ध हो जानेपर भूमा अवस्था प्राप्त होती है। यह कारणशरीरकी भूमा अवस्था सम्भूतिकी अवस्था है। यहाँ सर्वात्मभावका अनुभव होता है। यही अमृतत्व है। यही विश्वरूप है। यहीं पर सर्वात्मता अवस्थित है।

समस्त जनता ही एक पुरुष है

पृथ्वीपरकी समस्त जनताको मिलाकर एक शरीर बनता है। यहाँ मत, पंथ, वंश, देश आदिके भेद नहीं हैं। समस्त मानव जाति कारणशरीरसे एक ही है। वह एकता अविभक्त एवं अविच्छिन्न है, ऐसा मानकर ही मनुष्योंके समस्त व्यवहार होने चाहिये। इसीका नाम 'समुद्रतककी समस्त पृथ्वीपर एक राजा हो और समस्त मानव जातिका एकराज्य हो' यह है। इस अखिल मानव जातिको वेदने 'पुरुष' कहा है। समस्त मानवी जनता मिलकर 'एक पुरुष' है। इसी बातको प्रथम समझना चाहिये। यह बात जनताको आज समझ लेनी है। वह बात वेदोंने दी, ऋषियोंद्वारा उपदिष्ट हुई। समुद्रपर्यन्त पृथ्वीका एक आर्यराज्य हो, इस प्रकारकी घोषणा पांच हजार वर्ष पूर्व भारतीय ऋषियोंने की और वह घोषणा वहीं तक रही। इन पांच हजार वर्षोंमें एक कदम भी आगे नहीं बढ़ा गया। समस्त जनता एक पुरुष है। अर्थात् सब मनुष्योंका मिलकर एक देह है। इतनी अधिक एकात्मता सब मनुष्योंमें उत्पन्न होनी आवश्यक है। देखिये—

सहस्रशीर्षा पुरुषः सहस्राक्षः सहस्रपात्।
स भूमिं विश्वतो वृत्वाऽत्यतिष्ठद् दशाङ्गुलम्।
ब्राह्मणोऽस्य मुखमासीत् बाहू राजन्यः कृतः।
ऊरू तदस्य यद्वैश्यः पद्भ्यां शूद्रो अजायत॥
(ऋक्. १०।९०)

सहस्र बाहुः पुरुषः। (अथर्व० १९।६)

हजारों मस्तक, हजारों बाहु, हजारों नेत्र, हजारों उदर, हजारों जांघें और हजारों पैरोंवाला एक पुरुष इस पृथ्वीपर चारों ओर फैला हुआ है। ज्ञानी मनुष्य इसके मुख हैं, शूरवीर बाहु हैं, किसान और व्यापारी इसके उदर हैं तथा जांघे हैं, कारीगर इसके पैर हैं' इस प्रकारका यह

ज्ञानी, शूर, व्यापारी और शिल्पी मिलकर एक देह है। एक देहमें जिस प्रकार एकात्मता होनी चाहिये वैसी एकात्मता इस जनता रूपी पुरुषमें होनी चाहिये।

कौटुंबिक एकात्मता

कुटुंबमें अनेक मनुष्य भिन्न भिन्न होनेपर भी कुटुंब रूपसे उनमें जिस प्रकार एकात्मता रहती है (क्योंकि इस प्रकारकी एकात्मता होनेपर ही उस कुटुंबका यश एवं सामर्थ्य बढ सकता है) उसी प्रकार गांवमें, प्रान्तमें, राष्ट्रमें और पृथ्वीपर एकात्मता होवे तो ही समुद्रपर्यंत पृथ्वीपर एक आर्यराजा होगा एवं सर्वत्र एक राज्य व्यवस्था हो सकेगी। 'वसुधैव कुटुंबकम्' की वृत्ति यही है। सम्पूर्ण पृथ्वीकी समस्त जनता एक कुटुंबके समान एकात्मतासे एकरूप होनी चाहिये।

राष्ट्रीय जीवनका पाया

अध्यात्मके आधारपर राष्ट्रीय जीवनका इस प्रकारका यह सुदृढ पाया है। इसी पर राष्ट्रीय जीवनकी रचना होनी है। यहाँ यह बात और भी स्पष्ट हो जाती है कि विश्वात्मा, सूत्रात्मा या सर्वात्मा एक है, सबका कारणशरीर एक है। इस अध्यात्मके सिद्धान्तपर ही ये विचार आधारित हैं। व्यक्तिके पृथक्त्वको एवं पृथक् मुक्तिको यहाँ कोई विशेष स्थान नहीं है। व्यक्तिको अपनी पूर्ण उन्नति अवश्यमेव कर लेनी चाहिये। इसकी कारणशरीरमें जागृति होने तक पारमीमा है। इसका उदाहरण हम भगवान श्रीकृष्ण एवं अर्जुनके रूपमें दे सकते हैं।

भगवान् श्रीकृष्ण स्वयंको विश्वरूपमें अनुभव करते थे। उनका यह अनुभव उनके कारणशरीरपर जागृति होनेकी अवस्थामेंका था। श्रीकृष्णके लिये वैयक्तिक अथवा अन्य छोटेमोटे भेद प्रतिबन्ध स्वरूप नहीं हो पाते थे। इस कारण उनके सार्वजनिक हितके कार्य अव्याहत रूपसे जारी थे।

इनके साथ अर्जुन था। उसकी जागृति केवल उसके शरीरतक ही सीमित रहती थी। उसे इस बातका सुखदुःख अनुभव होता था कि 'मेरे सगे सम्बन्धि मर जायँगे अथवा जीवित रहेंगे।' भगवान् श्रीकृष्ण इस सुखदुःखसे मुक्त थे। क्योंकि उनकी जागृति कारणशरीरपर अर्थात् वैश्वानर स्थिति की थी। मनुष्यको इस स्थितितक पहुँचना है। इस लिये कहा है कि—

वैश्वानर स्थिति

अहं वैश्वानरो भूत्वा प्राणिनां देहमाश्रितः।
प्राणापानसमायुक्तः पचाम्यन्नं चतुर्विधम्।
१५।१४

'मैं वैश्वानर होकर प्राणियोंके देहमें रहा हूँ और प्राण तथा अपानसे युक्त होकर मैं चतुर्विध अन्न शरीरमें पचाया करता हूँ।' शरीरमें अन्न पचाना वैयक्तिक कार्य है तथा प्राणियोंके देहमें रहनेवाला, सदैव कारणशरीरपर जाग्रत रहनेवाला विश्वव्यापक आत्मा वैश्वानर है। इस वैश्वानर अवस्थाका अनुभव श्रीकृष्ण किया करते थे और उसी कालमें उनके सहवासमें रहनेवाला अर्जुन वैयक्तिक अवस्थामें जाग्रत था। ये दोनों कौरवोंके दुष्ट साम्राज्यको तोडकर उसके स्थानमें धर्मके साम्राज्यकी स्थापनाका राष्ट्रीय आन्दोलन एकमनसे कर रहे थे। इससे यह स्पष्ट हो जाता है कि कारण शरीरकी उच्च भूमिकापर पहुँचा हुआ पुरुष भी राजनीतिके डावपेंच खेल सकता है। अर्जुन केवल स्थूल शरीरपर जाग्रत होनेके कारण बार बार मोहित हो जाता था और इसी कारण वह अपने कर्तव्यसे भी च्युत हो जाता था।

ज्ञानी, शूर, व्यापारी और शिल्पी ये सब मानवसमष्टि-रूप एक पुरुषके मस्तक, बाहू, उदर और पैर हैं। इन एक एक अवयवोंके अन्तर्गत और भी बहुतसे उपविभाग हैं। किन्तु मुख्य मुद्दा तो यह है कि यह सम्पूर्ण मानव समष्टि एक देह है। एक देहके समान इसमें एकात्मता अपेक्षित है। इसमें अनन्यभाव चाहिये। आज इसमें वैर है।

अध्यात्मज्ञानद्वारा वैश्वानर, सूत्रात्मा, सर्वात्मा, विश्वात्मा इत्यादि नामोंकी यही सबके एकात्मताकी कल्पना प्रतिपादित-की गई है। इस कल्पनाका प्रतिपादन वेद और उपनिषदों द्वारा होनेपर भी मानवजातिने अभीतक उसे स्वीकार नहीं किया है। अभीतक मानवजातिके वंशभेद, धर्मभेद, पंथ-भेद, देशभेद, प्रांतभेद आदिके चक्रमें ही पडी हुई है। अभीतक इस मानवसमाजमें 'वसुधैव कुटुंबकम्' की वृत्ति उत्पन्न होनी है। आर्यऋषियोंमें यह वृत्ति खूब

विकसित हुई हुई थी; किन्तु वह विकास आज उनके वंशजोंमें नहीं रह गया है। किन्तु भारतीय तत्त्वज्ञानके ग्रन्थोंमें वह है और वे ग्रन्थ आज हमारे पास हैं, यह सौभाग्यकी बात है।

मानव सृष्टिकी एकात्मता

मानव सृष्टिकी एकात्मता आर्योंकी आध्यात्मिक राष्ट्रीयताका आधार है। यह एकात्मता हमारे अन्दर एकरस हो जानेके पश्चात् केवल राष्ट्रीयताके नामपर वैर नहीं बढ़ेंगे। यह वैश्वानरीय एकात्मता हममें न होनेके कारण और इस प्रकारकी अज्ञान-स्थितिमें भौतिक विज्ञान अत्यधिक बढ जानेके कारण युरोपियन राष्ट्र आपसमें व्यर्थ ही संघर्ष करते रहते हैं और इस प्रकार अपना गला अपने आप ही काट लेते हैं। किन्तु ऐसा करनेका कोई कारण नहीं है। जिस प्रकार एक कुटुम्बमें अनेक मनुष्य स्वतन्त्ररूपसे रहनेपर भी कुटुम्बभावनासे एकात्म हो सकते हैं, इसी प्रकार विश्वरूपी वैश्वानर पुरुष एक ही है, यह जानकर प्रत्येक राष्ट्र एक कुटुंबके अवयवके समान अपनेको मानेंगे और सेवा भावसे एक दूसरेकी उन्नतिके लिये पूरक होंगे। किन्तु इसके लिये विश्वात्मा एक है, समस्त पृथ्वीके मनुष्य मिलकर एक पुरुष है, यह अध्यात्मका ज्ञान उन्हें समझा देना आवश्यक है। यह बात यदि इन यूरोपीय राष्ट्रोंकी समझमें आ जाय तो उनका जो भौतिक विज्ञान आज विनाशक यन्त्रोंको उत्पन्न करनेमें अपनी शक्ति व्यय कर रहा है वही सहायक एवं हितकारी यन्त्रोंका निर्माण करेगा, जिससे संसारको सुख मिल सकता है। इसीलिये अध्यात्मज्ञानपर संचालित राष्ट्रीय जीवनका प्रसार होना आज आवश्यक है।

राजाका आदर्श ईश्वर

ईश्वर विश्वका राजा है और राजा एक राष्ट्रका राजा है। राज्य छोटा हो या बड़ा हो उसकी व्यवस्था एवं अनुशासन सर्वत्र समान ही रहना आवश्यक है। ऋषियोंने जो ईश्वरकी स्तुति की है और उसमें जो उसका वर्णन किया है वह विश्वके श्रेष्ठ एवं निर्दोष राज्यशासकका वर्णन है। ईश्वर शुद्ध, पवित्र, निर्दोष, समर्थ, दक्ष एवं प्रमादरहित शासक है। इस प्रकारके जिन गुणोंका वर्णन किया गया है वे सब राष्ट्रके शासकके लिये आदर्श स्वरूप होवे इसीलिये किया गया है। ईश्वरके सब गुण इस प्रकारसे आदर्श राजाके गुण हो सकते हैं। इस एक सूत्रको यदि हमने ध्यानमें रखा तो अध्यात्मशास्त्रका सिद्धान्त राज्यव्यवस्थामें किस प्रकार उपयोगी होते हैं, यह सहज ही समझमें आ जायेगा। उदाहरणार्थ हम ईश्वरके एक दो गुणोंको लेंगे। ईश्वरके ज्ञानी, निर्दोष, दक्ष, समर्थ आदि जो गुण हैं वे राजामें भी होवें, यह बात किसे स्वीकार न होगी? हम यहाँ एक दो गुणोंका सोदाहरण विचार करेंगे।

अकर्ता ईश्वर एवं प्रकृति कर्त्री

ईश्वर अकर्ता है और जो कुछ करना होता है वह सब प्रकृति किया करती है। यह अध्यात्मका एक बड़ा सिद्धान्त है।

कार्यकारणकर्तृत्वे हेतुः प्रकृतिरुच्यते ॥ २० ॥
प्रकृत्यैव च कर्माणि क्रियमाणानि सर्वशः।
यः पश्यति तथात्मानमकर्तारं स पश्यति ॥ २९॥
(गीता १३)

'प्रकृति ही सब कर्म किया करती है और आत्मा अकर्ता है, इस प्रकार जो जानता है वही सचमुच सत्य जनता है।' प्रकृति समस्त सृष्टिके व्यवहार किया करती है और आत्मा अथवा ईश्वर उस प्रकृतिके खेल देखा करता है। स्वयं कुछ नहीं करता। अध्यात्मका यह सिद्धान्त सबको विदित है। ईश्वर अथवा आत्माके स्थानपर हम 'राजा' को रखेंगे और प्रकृतिका अर्थ 'प्रजा' है, यह तो प्रसिद्ध ही है। यदि उसके प्रमाण अपेक्षित हों तो देखिये—

प्रवर्ततां प्रकृतिहिताय पार्थिवः। शाकुन्तल ७।३५
नृपतिः प्रकृतिरवेक्षितुं। रघु. ८।१८-१९

स्वामी-अमात्य-सुहृत्-कोष-राष्ट्र-दुर्ग-बलानि च।
राज्याङ्गानि प्रकृतयः पौराणां श्रेणयोऽपि च।
(अमरकोष २।८।१७)

(प्रकृतिहित) राजा प्रजाका हित करे। प्रजाकी देखरेखके लिये राजा होता है। (१) अधिकारी, (२) मन्त्री, (३) मित्र, (४) कोश, (५) देश-राष्ट्र, (६) किले, (७) सेना ये राज्यके सात अङ्ग हैं और इसे प्रकृति कहते हैं। नागरिकोंके समुदायको भी प्रकृति कहा जाता है। (पौरश्रेणी)

नागरिकोंका यह भी एक आठवा अङ्ग है, ऐसा किन्ही विद्वानों का कथन है । 'प्रकृति' का अर्थ प्रजाजनोंका संघ । प्रकृति सब कार्य करे, इसका अर्थ यह होता है कि प्रजाजनोंकी समितियाँ और उसके संघ राष्ट्रशासनके सब कार्य करें। राजा प्रकृतिके कार्यमें हस्तक्षेप न करे। प्रकृतिको–प्रजाको–अपनी ऊन्नतिके लिये जो कुछ करना आवश्यक हो वह सब करनेके लिये उसे पूर्ण स्वतन्त्रता होनी चाहिये ।

प्रजा ज्ञानविज्ञानसे इतनी अधिक सम्पन्न होनी चाहिये कि जिससे वह अपना समस्त कार्यव्यवहार स्वयं कर सके और राजाको करनेके लिये कुछ शेष ही न रहे ! 'आत्मा अकर्ता एवं प्रजा सब कुछ करनेवाली' अध्यात्मके सिद्धान्त-का क्या यह राजकीय रूपान्तर नहीं है ? इसमें अर्थ विषयकी कोई खींचातानी भी नहीं है अथवा कोई विशेष कल्पना भी नहीं करनी पडी है । ईश्वरके विश्वराज्यके सिद्धान्तोंको हमने पृथ्वीके राजाके लिये प्रयुक्त किया है । इसी प्रकार अन्य सिद्धान्त लगाकर देखना चाहिये। और देखिये–

त्रिशि राजा प्रतिष्ठितः । धर्मोऽस्मि । वा. य. २०।९
वशो मे अङ्गानि सर्वतः ॥ वा. य. २०।८

'प्रजाका आधार राजाको है । राजा कहे कि मैं धर्म हूँ, और मेरा समस्त शरीर प्राजाका बाना हुआ है।' इस प्रकार राजा माने । राजा और प्रजाकी एकात्मताका यहाँ उत्तम प्रकारसे वर्णन किया गया है । यहाँ राजा प्रजाका संघर्ष नहीं है अपितु उनका एकात्म्य है ।

राज्यशासकका शरीर प्रजाजनोंका शरीर है और प्रजा राज्यशासकका शरीर है । इतनी यहाँपर एकात्मता है।

हमने पहले दिखाया है कि समस्त जनता मिलकर एक पुरुष है एक शरीर है । इस शरीरमें एक राष्ट्र भी है और वह उस अखिल मानवसंघरूपी शरीरका एक अवयव बनकर रहेगा। वहाँपर वैरभाव उत्पन्न न होनेके लिये 'समस्त मानवसमाज एक शरीर है' यह कल्पना राष्ट्र-शासनके मूलमें रखी है। यह एक शरीर है; अतएव समुद्र पर्यंत पृथ्वीका एक आर्यराजा हो और उसका राज्यशासन एक हो, ऐसा कहा गया है । एक शरीरमें एक ही शासन हो, यह बात विशेष स्पष्टीकरण करनेकी नहीं है । प्रत्येक राष्ट्रको 'मैं समस्त मानवसंघका एक भाग हूँ, एक अव-यव अथवा एक अंग हूँ,' ऐसा मानकर व्यवहार करना चाहिये । इससे विश्वसेवाके भाव प्रत्येकमें उत्पन्न होंगे और द्वेषभाव जडमूलसे नष्ट हो जावेंगे ।

अपने शरीरको ही लीजिये । प्रत्येक अवयव अन्य शरीरकी सेवा करनेके लिये ही है। प्रत्येक अवयवको चाहिये कि वह समर्थ बने और अन्य शरीरकी सेवा करे । तभी सम्पूर्ण शरीर सुखी हो सकता है । इसी प्रकार समस्त राष्ट्रोंको चाहिये कि वे मिलकर अपनेको अखिल मानव जातिरूपी शरीरके अवयव माने और अपने सामर्थ्य एवं वैशिष्ट्यकी वृद्धि करके, समस्त जनताकी सेवाद्वारा सुखका वातावरण निर्माण करें। इस प्रकार समस्त मानवजातिका कल्याण होगा, विद्वेष कम होकर पृथ्वीपर स्थायी शान्ति हो सकेगी ।

सर्वव्यापक ईश्वर

एक और सिद्धान्तका अब विचार करेंगे । 'ईश्वर सर्व-व्यापक है' यह बात अध्यात्म द्वारा निश्चित की गई है और यह सर्वविदित है ।

ईशा वास्यमिदं सर्वं यत् किं च ।
वा. य. ४०।१ ईश. १

'ईश्वर इस सबमें व्यापक है' ऐसा इस मन्त्रका कहना है । जो ईश्वर समस्त विश्वमें है वह स्वयंके सामर्थ्यसे ही वहाँ व्याप्त है । किसी दूसरेकी दयासे वहाँ नहीं रहा है । उससे अधिक सामर्थ्यवान् कोई अन्य नहीं है जो कि उसे वहाँसे हटा सके ।

प्रजापते न त्वदेतान्यन्यो विश्वा जातानि परि
ता बभूव । ऋ. १०।१२१।१०

'हे प्रजापते ! यहाँपर तुमसे अधिक सामर्थ्यवान् दूसरा और कोई नहीं है, जो तेरा पराभव कर सके' इसलिये यह ईश्वर सर्वत्र व्याप्त है । इसका तात्पर्य यह है कि जिसके शरीरमें शक्ति होती है वही यहाँपर इस राष्ट्रमें रह सकता है । यदि कोई दूसरा यहाँपर उससे बढचढ कर होगा तो वह उसे हटा देगा ।

इस अर्थको अपने राष्ट्रमें घटाइये। आज हम स्वतन्त्र हैं । हमें स्वराज्य प्राप्त हुआ है । यदि इसे स्थायी रखना हो तो तदर्थ हमें सामर्थ्यवान् बनना चाहिये, हमसे अधिक दूसरा कोई भी अधिक सामर्थ्यशाली न हो, ऐसा प्रयत्न करना चाहिये। हमारा सामर्थ्य अपने शत्रुकी अपेक्षा

अधिक प्रभावशाली होना चाहिये। शत्रुकी अपेक्षा यदि हम अधिक दक्ष, अधिक प्रभावी और अधिक समर्थ होंगे तो ही प्राप्त हुआ स्वराज्य टिक सकेगा। यदि हमारी लापर्वाहीसे शत्रुकी शक्ति अधिक प्रभावी हो गई तो हमारा टिकाव लगना भी कठिन हो जायेगा।

'ईश' वह है जो ईशन शक्तिसे युक्त हो। जिसमें इस प्रकारकी शासक शक्ति होगी वही राज्यका शासन चला सकेगा। जिसमें शासन करनेका सामर्थ्य न होगा उसे यदि राज्यपर अधिष्ठित कर दिया जाय तो उसका वहाँ स्थिर रहना सम्भव ही नहीं है।

ऊपर बताया गया है कि ईश्वर सर्वत्र व्यापक है। उसकी शक्ति सर्वत्र विद्यमान है। ऐसा स्थान कहीं भी नहीं है जहाँपर उसकी शक्ति न हो। राष्ट्रभरमें यह शासक-शक्ति सर्वत्र समानरूपेण प्रभावशाली होनी चाहिये। केवल केन्द्रमें प्रभावशाली हो और अन्यत्र न हो, ऐसा न होना चाहिये। ईश्वर सर्वत्र पहुँचा है और सर्वत्र प्रभावशाली है। इसीलिये उसे इधर उधर सरकाना सम्भव नहीं है। हमारे राज्यशासकका शासन यदि सभी स्थानोंपर उत्तम रूपेण प्रभावी होगा तो ही वह स्थिर रह सकता है। जहाँ संरक्षण कम होगा वहाँ शत्रु आक्रमण कर देगा और अपना आधिपत्य जमा लेगा।

ईश्वरके उपर्युक्त गुणोंका ही यदि केवलमात्र विचार किया जाय तो यह भलिभांति विदित हो जायेगा कि हमारा राज्य-शासन किस प्रकारका होना चाहिये। ईश्वरके गुणोंको ही हमें अपने राज्यशासनमें अन्तर्हित कर लेने चाहिये। उनका समावेश हम अपनेमें करें, इसीलिये ऋषिमुनियोंने ईश्वरके गुणोंका वर्णन किया है। इस प्रकार सम्पूर्ण राज्यशासनके विषयमें पूरा विवरण बताया जा सकता है।

ईश्वरके एक दो गुणोंका वर्णन हम उदाहरणार्थ और कर लेते हैं और यह दिखानेका यत्न करते हैं कि वे गुण राज्यशासनमें किस प्रकार समाविष्ट हो सकते हैं—

तत् दूरे तद उ अन्तिके। तत् अन्तर् अस्य सर्वस्य। तत् उ सर्वस्यास्य बाह्यतः। तत् धावतः अन्यान् अत्येति। वा. य. ४० ईश.

'वह दूर है और समीप भी है, वह सबके अन्दर है और बाहर है, वह दूसरे दौडनेवालोंके आगे जाता है' यह ब्रह्मका वर्णन है। ब्रह्म, आत्मा और ईश ये नाम उस मूल महाशक्तिके ही वाचक हैं। यही विश्वका शासक है और उसीका इस विश्वमें शासन चल रहा है। वह शासन जिस प्रकार समीप उसी प्रकार दूर, जिस प्रकार केन्द्रमें उसी प्रकार सीमाप्रान्तमें है। वह जैसा अन्दर वैसा ही बाहर है और जो शत्रु दौडते हैं उनसे भी आगे वह वेगसे दौडता है। यह अन्तिम गुण अत्यन्त महत्वका है। मान लीजिये कि चोर चोरी करके यदि भागने लगे तो राष्ट्र रक्षकोंका वेग उसे पकडनेके लिये उससे भी अधिक होना चाहिये, तभी वे उस चोरको पकड सकेंगे। शासकोंकी शक्ति अन्य लोगोंकी अपेक्षा अधिक होनी चाहिये तभी वे शासन कर सकेंगे। यदि गुण्डोंकी शक्ति बढ गई तो वहाँ गुण्डोंका राज्य हो जावेगा।

'ईशावास्यमिदं सर्वं' शक्तिमानोंका शासन यहाँ-पर रहा करता है, यह नियम है। ईशमें बहुत बडी शक्ति हुआ करती है, इसलिये वह विश्वपर शासन करता है। उससे अधिक और किसीकी भी शक्ति नहीं है; अतएव सबपर ईशका ही शासन चलता है।

नगर कैसे हों ?

अबतक हमने यह देखा कि शासकोंकी शक्ति महान होनेपर राज्य स्थायी होता है। अब राष्ट्रके नगर कैसे हों, यह देखिये। नगरोंकी सुरक्षितता विषयक इस मन्त्रपर विचार कीजिये—

अष्टाचक्रा नवद्वारा देवानां पूरयोध्या।

'देवनगरी अयोध्या है। इस नगरीके बाहर जो किलेकी दीवाल है उसमें नौ दरवाजे और आठ चक्र लगे हुए हैं।' इस कारण यह नगरी 'अ-योध्या' अर्थात् शत्रुद्वारा आक्रमित हो जानेपर भी हाथमें आना सम्भव नहीं है। इस प्रकारकी यह दुर्ग नगरी है। यह वास्तवमें अध्यात्मका वर्णन है। यह एक प्रकारसे शरीरका ही वर्णन है। पृष्ठ-वंशमें मूलाधार, स्वाधिष्ठान आदि चक्र हैं और नौ इन्द्रियोंके द्वार ही नौ द्वार हैं। यह शरीरका वर्णन है। यहाँ इसका अधिष्ठाता आत्मा निवास करता है, यही वेदके कविको यहाँ अभिप्रेत है। इस सम्पूर्ण कथनमें मानो नगरके चारों ओर स्थित सुसज्ज किले जैसा वर्णन है। कविकी दृष्टिके सामने

ऋषिकालके सुसज्य नगर थे, यह बात इससे स्पष्ट होती है। जब अध्यात्मशास्त्रमें कोई दृष्टान्त आता है तो वह स्थिति सार्वत्रिकरूपेण विद्यमान रहती है, ऐसा समझनेमें कोई आपत्ति नहीं है।

पुरी और नगरी

यहाँ 'देवानां पूः' अर्थात् 'देवोंकी नगरी' ऐसा कहा गया है। समस्त सुखसाधन एवं समस्त संरक्षक साधनोंसे जो परिपूर्ण होती है वह 'पुरी' कहलाती है। जहाँ केवल नागरिक रहते हों उसे नगरी कहा जाता है, जहाँ पवित्र स्थान होते हैं तीर्थक्षेत्र कहा जाता है। जहाँ लोग संघशः रहते हैं उसे ग्राम कहते हैं। इस प्रकारसे भिन्न भिन्न गांवोंके भिन्न भिन्न नाम हैं। इससे यह सिद्ध होता है कि वैदिककालमें ग्राम-नगर-पत्तन-पुरी-क्षेत्र आदिकी कल्पना बिल्कुल निश्चित हो गई थी।

ग्रामाधिकारी

ग्रामकी स्थापना होते ही ग्रामाधिकारी नियुक्त किया जाता है। इस सम्बन्धसे भी अध्यात्मका प्रतिपादन करते समय प्राण अन्य प्राणों एवं उपप्राणोंको शरीरमें भिन्न भिन्न स्थानोंपर निवास करनेके लिये कहता है तथा प्रत्येक ग्रामपर एक एक अधिकारीकी नियुक्ति करता है। वर्णन इस प्रकार है—

यथा सम्राट् एव अधिकृतान् विनियुङ्क्ते।
एतान् ग्रामान् एतान् ग्रामान् अधितिष्ठस्व
इति एवमेव एष प्राणः इतरान् प्राणान्
पृथक्पृथगेव संनिधत्ते॥ प्रश्न ३।४

जिस प्रकार सम्राट् अपने साम्राज्यमें 'तू इतने गावोंकी देखरेख कर!' 'तुझे इस जिलेपर नियुक्त किया है' ऐसा कहकर विभिन्न नियुक्तियाँ करता है, इसी प्रकार मुख्य प्राण अन्य प्राणोंको इस शरीरके भिन्न भिन्न भागोंमें नियुक्त करता है और उनके द्वारा वे वे काम करा लिया करता है। यहाँ प्राणोंके कार्योंका वर्णन करनेके लिये प्रान्ताधिकारियों-की उपमा दी गई है। कविकी दृष्टिके सामने जिलाधिकारी एवं प्रान्ताधिकारी नियुक्तिका विषय है। प्राणोंकी व्यवस्थाका निदर्शन करनेके लिये वह प्रान्ताधिकारियोंकी उपमा दे रहा है। प्रान्ताधिकारी किस प्रकारके हों, यह बात प्राणोंकी कार्यक्षमतासे समझी जा सकती है।

प्राण और इन्द्रियाँ

इन्द्रियाँ तो विषयभोगकी प्राप्ति होनेपर ही कार्य करती हैं। विषय भोगोंकी लालसासे कार्य करना गौण है। प्राणका कार्य मुख्य है; क्योंकि वह बिना कोई उपभोग लिये जन्मसे लेकर मृत्युतक निरन्तर कार्य किया करता है। प्राणके उदाहरणसे यह सिद्ध होता है कि वही कार्य मुख्य है जो बिना किसी लालसाके बराबर होता रहे। अधिकारी प्रलोभनमें फंसनेवाले न होने चाहिये। सुख हो या न हो, अपना कार्य उत्तम रीतिसे करनेवाले अधि-कारी हों। प्राण एवं अधिकारियोंके साधर्म्यसे यह बोध हमें प्राप्त होता है।

चुनाव

समस्त प्रजाजनोंका संघ एक प्रकारसे शासक है, यह पूर्व दिखाया जा चुका है। समस्त प्रजा एक साथ कोई राज्यशासन नहीं चला सकती। यह कार्य तो उसके प्रति-निधियों द्वारा ही सम्भव हुआ करता है। इन प्रतिनिधि-योंका चुनाव किस प्रकारका हो? इसका विचार यहाँ करना चाहिये। वह वेदमन्त्रोंमें इस प्रकार वर्णित है—

विराट् वा इदमग्र आसीत्। सा उदक्रामत्
सा समितौ न्यक्रामत्। सा उदक्रामत् सा
आमन्त्रणे न्यक्रामत्। अथर्व० ८।१०

'विराट्' प्रारम्भिक अवस्था थी। वि-राट् अर्थात् राजाके न होनेकी स्थिति। जब राजाकी कल्पनाही न थी उस समयकी यह अवस्था है तब केवल प्रजामात्र थी और उसका शासक कोई भी नहीं था। यह प्रजाशक्ति उन्नत एवं केन्द्रित हुई और उसमेंसे ग्रामसभा उत्पन्न हुई। ग्रामसभाद्वारा वह प्रजाकी शक्ति कार्य करने लगी। इसके बाद इस शक्तिकी और भी उत्क्रान्त हुई और वह राज-समितिके रूपमें परिणत हुई।

अर्थात् ग्रामस्थ मंडलके प्रतिनिधि ग्रामसभामें आये और उनके द्वारा ग्राम-शासन होने लगा। ग्रामसभाओंके प्रतिनिधियोंकी राष्ट्रसमिति बनी और उसके द्वारा राष्ट्रका शासन चलने लगा। इसके पश्चात् इस राष्ट्र समितिके प्रतिनिधियोंका एक मन्त्रीमण्डल बना। इसीको उपर्युक्त मन्त्रमें 'आमन्त्रण' कहा गया है। यह मन्त्रीमण्डल राष्ट्रका

शासन करने लगा। इस आमन्त्रणमण्डलका अध्यक्ष 'प्रजापति' हुआ इस प्रकार 'प्रजापति-संस्था' द्वारा राष्ट्रका शासन चलने लगा।

प्रजापति राष्ट्रका अध्यक्ष बना और उसकी आज्ञासे चलनेवाली ग्रामसभा एवं राष्ट्रसमिति ये दो शासक संस्थायें बनीं। वे प्रजापतिकी आज्ञासे उत्तर होनेके कारण उन्हें प्रजापतिकी पुत्रियाँ कहा जाता था। तथापि इन दोनों सभाओंके सदस्य प्रजापतिके रक्षक माने जाते थे, ऐसा भी वर्णन किया गया है—

सभा च मा समितिश्चावतां प्रजापतेर्दुहितरौ संविदाने। [illegible] संगच्छा उप मा स शिक्षात् चारु वदानि पितरः संगतेषु। अथर्व०

'सभा और समिति प्रजापतिकी दो पुत्रियाँ हैं; किन्तु वे प्रजापतिको सिखानेवाली एवं उसकी रक्षा करनेवाली हैं।' राज्यशासन सम्बन्धि सत्यज्ञान इन सभाओंके द्वारा राजाको प्राप्त होता है। यही कारण है कि वे प्रजापतिको सिखाती हैं तथा उसकी रक्षा करती हैं। क्योंकि जो राजा प्रजाका उत्तम प्रकारसे पालन करता है वह प्रजापतिके रूपमें सम्मानित होता है। किन्तु जो शासक उत्तम रीतिसे प्रजाका पालन न करेगा वह प्रजापति पदसे हटा दिया जावेगा। यह बात वेदमन्त्र ही कहता है। देखिये—

वास्तोष्पतिं व्रतपां निरतक्षन्। ऋ. १०।६१।७

ठीक प्रकारसे राज्यशासन न करनेवाले पहले प्रजापतिको निकाल दिया तथा दूसरे प्रजापतिको लोक प्रतिनिधियोंने चुन लिया।

इस व्याख्यानमें अध्यात्मशास्त्रके सिद्धान्त राज्य-शासनके लिये किस प्रकारसे उपयोगी होते हैं, यह बताया गया है। अध्यात्मशास्त्रका वर्णन करते समय ही ऋषियोंने राज्यशासनका वर्णन किया है। राज्यशासन बहुत बडा एवं बहुत व्यापक विषय है। उसमें आर्थिक, सामाजिक, शत्रुनिर्दालन, मित्ररक्षण आदि अनेक विषय हैं। उन सबका वर्णन इस छोटेसे लेखमें होना सम्भव नहीं है। इन सम्पूर्ण विषयोंपर लिखा जा सकता है। किन्तु इस लेखमें मुख्य बात यह बताई गई है कि समस्त मानव जाति मिलकर एक शरीर है। यह एकात्मता ही अध्यात्ममूलक राज्यशासनका आत्मा है। कृपया उस ओर पाठक विशेष ध्यान दें।

प्र श्न

(१) अध्यात्मज्ञानसे वैयक्तिक दिव्यजीवन

१ विचार, उच्चार और आचारमें सामंजस्य किस तरह होता है ?

२ उत्तम पुरुष व्याकरणमें किसे कहते हैं ? उत्तम पुरुष कौन है ? उत्तम पुरुष और पुरुषोत्तममें क्या भेद है ?

३ उत्तम पुरुष, मध्यम पुरुष और तृतीय पुरुष क्या बोध देते हैं ? स्वयंभू अस्तित्व किसका है ?

४ 'अहं ब्रह्मास्मि' का भाव क्या है ? इस भावका वेदमंत्र कौनसा है ? दोनोंके आशयोंकी तुलना करो।

५ इन्द्रकी सभा कहां है और उस सभाके सदस्य कौन हैं? इन्द्रियोंका अर्थ क्या है ?

६ शक्तिकी वृद्धिका अनुष्ठान किस तरह होता है ?

७ सप्तऋषियोंके आश्रमका स्थान बताओ और वर्णन करो क्या शरीरको पूयविण्मूत्रका गोला कहनेके लिये वेदमें कोई प्रमाण है ?

८ दशरथ और दशमुख क्या भाव बताते हैं ?

९ पहारा करनेवाले देव कौन हैं ? और वे कहां पहारा करते हैं ? देवतामंदिर कहां है ?

१० द्वारका और अयोध्या कहां है, उसका स्थान कहां है ? इन नगरियोंका वर्णन करो.

११ कुरुक्षेत्र कहां है और वहां क्या होता है ?

१२ वैदिक निवृत्ति मार्ग कैसा है, उसका वर्णन करो। सच्ची निवृत्ती और भ्रामक निवृत्तिका स्वरूप बताओ।

१३ ब्रह्मज्ञानका परिणाम सुप्रजा है, इसके प्रमाण दो। इस विषयमें आज क्या मानते हैं ?

(२) अध्यात्मज्ञानसे राष्ट्रीय उन्नति

१४ गीताने अर्जुन पर कौनसा परिणाम किया ?

१५ श्री रामचन्द्र पर वसिष्ठके उपदेशका परिणाम क्या हुआ ?

१६ तीन शान्तियोंकी स्थापना कौन कर सकता है ?

१७ जागतिक शान्ति, राष्ट्रीय शान्ति और वैयक्तिक शान्ति किस तरह स्थापन होगी और कौन इनकी स्थापना करेंगे ?

१८ संघशः अमरत्व होता है या व्यक्तिशः होता है ?

१९ मनुष्यके शरीर कितने हैं और वे कैसे हैं ?

२० समस्त जनता मिलकर एक विराट् पुरुष है यह कैसा है वह प्रमाणसे सिद्ध करो।

२१ एकात्मता, कौटुंबिक और राष्ट्रीय कैसी होती है ?

२२ वैश्वानर अग्निका स्वरूप बताओ।

२३ राजाका आदर्श कौन हैं ?

२४ अकर्ता ईश्वर और कर्त्री प्रकृतिका राजकीय भाव क्या है ?

२५ ईश्वरके ऐश्वर्यका वर्णन करो।

२६ नगर कैसे हों ? प्रमाणोंके साथ समझाओ।

२७ पुरी, नगरी ग्राम और क्षेत्रका स्वरूप बताओ ।

२८ शासनके लिये प्रतिनिधि कैसे चुने जांय ?

२९ सभा, समिति और आमंत्रणके स्वरूप बताओ।